04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 89



# *खट्टर काका* का मैथिल समाज : हास्य-विनोद की लोकायत संस्कृति

देवनाथ पाठक

वर्तमान भारत में धार्मिक-सांस्कृतिक विषयों को केंद्र में रख कर हँसी-मज़ाक़ थोड़ा कठिन लग सकता है लेकिन इस विधा का प्रचलन हमारी लोक संस्कृति से लेकर आधुनिक साहित्यिक प्रयोगों में पाया जाता है। इसी संदर्भ में यह लेख बीसवीं सदी के पहली चौथाई में हरि मोहन झा रचित *खट्टर काकाक तरंग* नामक प्रचलित साहित्यिक रचना के ऊपर केंद्रित रहते हुए साहित्य का एक समाजशास्त्रीय पाठ प्रस्तुत करता है।

हरिमोहन झा आधुनिक मैथिल गद्य साहित्य के एक जाने माने स्तंभ रहे हैं। *खट्टर काका* विमर्श के आने से पूर्व उन्हें उपन्यास *कन्यादान* के लिए ख्याति मिल चुकी थी। *कन्यादान* मूल रूप में एक धारावाहिक-कथा के रूप में लिखा गया था। लेखक ने लगभग 1940 में *खट्टर काकाक तरंग* नामक व्यंग्यात्मक गद्य लिखा। यह गल्प की पद्धति में लिखी गई एक प्रयोगात्मक पहल थी। शीघ्र ही इसके प्रमुख पात्र खट्टर काका एक घरेलू नाम हो गए। खट्टर काका का चरित्र लोक समाज की व्यंग्य शैली में संवाद करता है। सामाजिकता और सामाजिक संबंधों पर चुटकियाँ लेना झा के काका के लिए उतना ही सहज है जितना उत्तर बिहार के गाँव और क़स्बों में आम तौर पर देखा जाता है। इस तरह एक साहित्यिक रचना होने के बावजूद झा के किरदार खट्टर काका लोक समाज में उपस्थित अनेक काकाओं के साथ संवाद करते, उनका प्रतिनिधित्व करते मिलते हैं। इस लेख में इंटर-टेक्सचुअलिटी को समीक्षा के एक आधार के रूप में प्रयोग किया गया है और हरिमोहन झा,

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 90



*खट्टर काका*, उनका व्यंग्यात्मक विमर्श, उनके भारत के सांस्कृतिक विमर्श से संबंध आदि को मुखर किया गया है।

काका के संवाद का फलक व्यापक है, जहाँ कबीर पंथ से लेकर चार्वाक के लोकायत दर्शन तक का उल्लेख बार-बार आता है। लोक के इस सिरे के सहारे यह लेख *खट्टर काका* के हास्य-विनोद, टीका-टिप्पणी और उनके विचार-विमर्श का संबंध लोकायत के सिद्धांतों से जोड़कर देखता है और लगभग विस्मृत हो गए लोकायत विचारों को पाठकों की स्मृति में लाकर एक महत्त्वपूर्ण बहस छेड़ता है। इस बहस में लोकायत एक सजीव शैली और विचार है। इसका कमोबेश संबंध तंत्र में उपस्थित देहवाद से भी है। इस देहवाद में देह केवल मानव मात्र की नहीं, बल्कि समाज-संस्कृति की भी देह है। और इस देह को काका हिंदू धर्म ग्रंथों में व्याप्त इहलोक और परलोक के भेद से अलग करके देखते हैं। इसमें एक स्वतंत्र देह की परिकल्पना उभरती है। जो है तो काका हैं, उनकी हँसी-ठट्ठा है, जीवन है, और बहस है। लोकायत का वितंडावाद *खट्टर काका* के गल्प में भरपूर पाया जाता है जिसके माध्यम से हरिमोहन झा समाज और संस्कृति की पर्याप्त आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

हास्य-विनोद के माध्यम से सामाजिक संबंधों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालने, सांस्कृतिक और धार्मिक विषयों पर हल्के-फुल्के तरीक़े से गंभीर विमर्श करने के क्या परिणाम हो सकते हैं? इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए ये पड़ताल भी आवश्यक है कि कैसे इस तरह का संवाद प्रतिरोध की वैकल्पिक अवधारणा प्रस्तुत करता है। यह लेख हास-परिहास की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को उजागर करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास करता है। ये प्रश्न समाज में सत्तात्मक विचार, शक्ति संघर्ष, संतुलन-असंतुलन, जातिगत और लैंगिक भेद-विभेद पर बहस आमंत्रित करते हैं।

## साहित्य-संस्कृति का समाजशास्त्र

कैसा हो साहित्य-संस्कृति का समाजशास्त्र, जिसमें देशज भाषाओं में रचित साहित्य को पढ़ा, समझा और विश्लेषित किया जाए? क्या हो इस लेख का समाजशास्त्रीय ढाँचा, जिसमें साहित्य के एक विशेष हिस्से को पढ़ते हुए हमारी नज़र एक सर्वांगीण समाज पर टिकी रहे? इस बृहत प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास है यह लेख। ये इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि आधुनिक समाज विज्ञान के अंदर मौजूद कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिसे धक्का लगाए बग़ैर हम साहित्य, समाज संस्कृति और उनके राजनैतिक लक्षणों के पारस्परिक संबंध को नहीं समझ पाएँगे।

साहित्य के समान एंथ्रोपोलॅजी और सोशियोलॅजी में भी रिश्ते-नातों का केंद्रीय स्थान रहा है। बस तथ्य और कल्पना के स्वघोषित मिश्रण का फ़र्क़ हो सकता है। प्रारंभिक अध्ययनों में मानव समाज किनशिप, यानि पैतृक-मातृक-वैवाहिक संबंधों के एक सुंदर गुच्छे के रूप में सामने आया। फिर किनशिप के अंदर ही शक्ति-संबंधों को भी देखा-परखा जाने लगा। 20वीं सदी में क्लासिकल एंथ्रोपोलॅजी, एथ्नोलॅजी, सोशियोलॅजी आदि में समाज और संस्कृति के

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 91

प्रारंभिक स्वरूपों पर बृहद चर्चाएँ मिलती हैं। अमरीका में फ्रांज़ बोआस (1974) आदिम जन मानस को समझने के लिए चार्ल्स डार्विन के सिद्धांतों के प्रभाव को देख रहे थे। अमेरिका में व्याप्त नस्ल, यानि आनुवंशिक और रंग-भेद पर आधारित समाज में प्रचलित कला-संस्कृति आदि की गूढ़ता का बोआस ने विश्लेषण किया। उन्होंने आदिम समाजों की समानताओं को उजागर किया। दूसरी तरफ़ एंथ्रोपोलॅजी की ब्रिटिश परंपरा में 19वीं सदी में ही ई.बी. टायलर ने संस्कृति को केंद्रीय अवधारणा के रूप में परिभाषित कर दिया था। बाद में एथनोग्राफ़ी के आधार पर सामाजिक संरचना, उसके अंदर फंक्शन यानि सामाजिक व्यवहार आदि के प्रभाव पर सैद्धांतिक चर्चाएँ होने लगीं। इसे फंक्शनलिज़्म अथवा प्रकार्यवाद के नाम से भी जाना जाता है जिसे एमिल दुर्खाइम और मार्सल मॉस, ए. आर. रैडक्लिफ़ ब्राउन, बरनिस्लॉव मलिनवस्की आदि ने प्रचलित किया। बाद में लेवी स्ट्रॉस का संरचनावाद, और उसके बाद उत्तर-संरचनावाद आता है। एंथ्रोपोलॉजी के इस लंबे क़िस्से को फ्रेडरिक बार्थ (2005) ने एक जगह समेटने की अच्छी कोशिश की है। हमारा उद्देश्य उस क़िस्से को दोहराना नहीं है।

उन मूलभूत पाठ्य पुस्तकों से हमने सीखा कि रिश्ते-नाते, परिवार-समाज, शक्ति प्रदर्शन और संवर्धन के आधार भी रहे। इस दिशा में अनेक एंथ्रोपोलॉजी के विद्वानों ने यह असंतोष भी जताया कि बीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेपों, जिन्हें क्लासिक अध्ययन का दर्जा प्राप्त है, उनमें समाज और संस्कृति की निहित राजनीति पर्याप्त रूप में उभर कर सामने नहीं आती। 1970 के दशक में क्लिफोर्ड गीयर्ट्ज़ (1972) ने इंडोनेशिया के बाली में होने वाले एक सांस्कृतिक खेल, बालिनीज़ कॉकफाइट, की विस्तार से चर्चा की। उसमें उन्होंने 'डीप-प्ले' की अवधारणा को देखा और समझा। सांस्कृतिक खेल-कूद, हँसी-मज़ाक़, उत्सव-उल्लास आदि के गहरे सामाजिक और राजनीतिक मतलब को इशारे से, संकेतों-प्रतीकों के ज़रिये, उजागर करने की प्रक्रिया है डीप-प्ले। ख़ास बात ये है कि सांस्कृतिक घटनाएँ अपने आप में एक टेक्स्ट, एक पाठ, के रूप में प्रकट होती हैं जिन्हें एंथ्रोपोलॉजी में पढ़ा और समझा जाता है। ऐसे प्रक्रियानुमा पाठ के मद्देनज़र गीयर्ट्ज़ एंथ्रोपोलॉजी और सोशियोलॉजी को संकेतों, प्रतीकों और मतलबों से गहरे तौर पर जुड़ने और समीक्षा करने की सलाह देते हैं।[1] इसके अलावा एक और विमर्श सामने आता है जिसमें शक्ति, सत्ता और एंथ्रोपोलॉजी के रिश्ते के आलोक में

[1] क्लिफोर्ड गीयर्ट्ज़ (1972) : 1-37.

समाज-संस्कृति को समझने के लिए कुछ नए प्रस्ताव गढ़े गए। तलाल असद (1979) के लेख 'एंथ्रोपोलॉजी ऐंड द कॉलोनियल एनकाउंटर' ने कुछ ऐसा ही किया।[2] अपने आप से इतर किसी 'अन्य' की तलाश और अध्ययन आधुनिक एंथ्रोपोलॉजी के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे। एंथ्रोपोलॉजी और उसकी विषय वस्तु, स्व और अन्य के संबंध में शक्ति और सत्ता का प्रभाव देखा गया। आदिम, ग्रामीण, कृषक और लोक संस्कृति के समाज को 'अन्य' मानकर अध्ययन करने और समझने में समस्या दिखी। विशेषतः पूर्व में उपनिवेश रहे समाजों में इस विषय पर गहन चिंता ज़ाहिर की गई। भारत भी एक ऐसा ही समाज था, और है भी।

इस संक्षिप्त चर्चा में यह भी जोड़ देना ज़रूरी है कि स्वाधीन भारत में समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र और मानव या नृ-विज्ञान के संबंध पर भी बहस की। लखनऊ में राधाकमल मुखर्जी और डी.पी. मुखर्जी आदि इस विषय पर मुखर थे। उन्हें सोशियोलॉजी और एंथ्रोपोलॉजी के फ़र्क़ में औपनिवेशिक बौद्धिकता का आभास था। इसीलिए वे दोनों के साहचर्य पर ज़ोर देते थे। जब एम.एन. श्रीनिवास ने एथ्नोग्राफ़ी के आधार पर समाजशास्त्रीय अध्ययन किया तो उसमें एंथ्रोपोलॉजी भी भरपूर मौजूद थी। दोनों के बीच का औपनिवेशिक फ़र्क़ ख़त्म नहीं हुआ लेकिन दोनों के बीच का पुल ज़रूर सामने आया। उसके साथ ही स्वाधीन भारत में संस्कृति के लिखित-अलिखित और प्रिंट-मौखिक साहित्य को समझने का सोशियोलॉजी और एंथ्रोपोलॉजी का एक अलिखित घोषणा पत्र भी आकार ले रहा था। समाज वैज्ञानिकों की इस पीढ़ी का साहित्य की तरफ़ ख़ासा रुझान था। आख़िर बंगाल से जुड़े विद्वानों की बौद्धिक तैयारी साहित्य के बिना कैसे हो सकती थी। राधाकमल मुखर्जी (1944) बड़े ही मुखर थे कि भारत में समाजशास्त्र को कला, संस्कृति आदि पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। वे कला और समाजविज्ञान को एक-दूसरे का पूरक तक मानते थे और कला के विश्वव्यापी विचार के अंदर ही वे समाज, संस्कृति और साहित्य को उपसमुच्चय की तरह देखते थे। समाजशास्त्र में व्याप्त कला की तरफ़ उदासीनता को देखकर वे हतप्रभ थे।[3] इस स्थिति पर आठ दशक बाद भी बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ा है और इसीलिए साहित्य, कला आदि का समाजशास्त्र हाशिये पर ही है।

बहरहाल, जो भी प्रयत्न दिखते हैं उससे ऐसा लगता है कि क्लासिकल पाश्चात्य परंपरा में और स्वाधीन भारत में लिखित-अलिखित साहित्य का फ़र्क़ बना रहा। यह फ़र्क़ बहुत हद तक विचारधारात्मक था और वर्ग विशेष के पूर्वाग्रह से ग्रसित भी। रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955) द्वारा प्रतिपादित लिटिल ट्रेडिशन (लोक संस्कृति) और ग्रेट ट्रेडिशन (शास्त्रीय और पठित संस्कृति) का फ़र्क़ इसी पूर्वाग्रह को उजागर करता था।[4] साहित्य को टुकड़ों में बाँटने की यह पद्धति आधुनिकता के स्व और अन्य के फ़र्क़ से मेल खाती है। आश्चर्य नहीं कि साहित्य का समाजशास्त्र और लोकजगत या वाचिक परंपराओं का समाजशास्त्र अलग-अलग रहा है।

---

[2] तलाल असद (1979) : 85-96.

[3] राधाकमल मुखर्जी (1944) : 60-62.

[4] रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955) : 13-21.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 93



साहित्य के समाजशास्त्र के नाम पर महज़ साहित्यिक आलोचना का एक प्रारूप ही सामने आया। आम तौर पर साहित्य के समाजशास्त्र के नाम पर सिर्फ़ 'मेथड' की चर्चा ही होती है। उनमें कहे-सुने-लिखे के भेद जैसी जटिलता पर कोई विशेष रोशनी नहीं पड़ती।

वैचारिक और अवधारणात्मक बायनरी को तोड़ने वाले विचारों में हमें लिखित-अलिखित साहित्य के संबंधों पर विशेष टिप्पणी नहीं मिलती। परफ़ॉर्मेंस, थिएटर, कला, सिनेमा आदि के अध्ययन में बहुतायत में संस्कृति-राजनीति का विरोध बना रहता है। परफ़ॉर्मेंस को राजनीति से जोड़कर देखने की विधा हाल-फ़िलहाल की है। समाजशास्त्र में जेफ़्री एलेक्जेंडर (2011) जैसे विद्वान परफ़ॉर्मेंस और पावर, यानि प्रदर्शन और शक्ति-सत्ता के संबंध पर ज़ोर देते हैं। चाहे वो मानव अधिकारों के लिए होने वाले आंदोलन हों या राजनीतिक सम्मेलन या युद्ध आदि की राजनीति, सबमें परफ़ॉर्मेंस देखा जाने लगा। जीवन के हरेक पहलू में, पारंपरिक अनुष्ठानों-संस्कारों में और घटनाओं में नाटकीयता देखने की एक परंपरा समाज विज्ञान में पहले से मौजूद थी। चाहे वो इरविंग गॉफ़मैन (1959) का *प्रेज़ेंटेशन ऑफ़ सेल्फ़ इन एवरीडे लाइफ़* हो या विक्टर टर्नर (1969) का *रिचुअल प्रॉसेस*, ऐसे लेखन से साफ़ ज़ाहिर होता है कि अलिखित भी संस्कृति में बड़ा नाटकीय महत्त्व रखता है।

इस पृष्ठभूमि में ही हमें भारतीय समाज और संस्कृति को विषय वस्तु बनाने की ज़रूरत है। उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताओं और उसमें व्याप्त संबंधों और शक्ति संघर्षों को देखते हुए हम स्व और अन्य का जड़वत भेद लेकर आगे नहीं बढ़ सकते। न ही हम लिखित-अलिखित की बायनरी के साथ बहुत आगे बढ़ पाएँगे। इस लेख में मैथिल समाज और संस्कृति की चर्चा करते हुए इस आलोचनात्मक एंथ्रोपोलॉजी और उसके विमर्श को याद रखना ज़रूरी है। यही वो ढाँचा है जो इस लेख के पार्श्व में साहित्य का समाजशास्त्र बनाता है।

## देशज साहित्य और संस्कृति में हास्य-विनोद

एंथ्रोपोलॉजी और सोशियोलॉजी में जिन रिश्ते-नातों का विस्तृत ज्ञान मिलता है, वे हमारे साहित्य और संस्कृति से गुत्थम-गुत्था हैं। उनमें एक शक्ति का संघर्ष भी निहित होता है। इन शक्ति संबंधों के सबूत तब हमारे सामने आते हैं जब कोई विवाद हो, ज़र-जोरू-ज़मीन के नाम पर भाई-भौजाई तो लड़ते ही हैं, आस-पड़ोस और समाज-बाज़ार भी लड़ता है। लोक भाषाओं में इसे दियादी, भाई-भाई के विवाद के नाम से जाना जाता है। दियाद, यानि भाई और उसका परिवार जो आस-पड़ोस में सबसे पहले आने वाले संबंधों में है, कभी भी चैन से नहीं रहने देता। प्राचीन क़िस्से-कहानियों में समाज-परिवार त्याग कर जंगल में तपस्या करने वाले ऋषियों की लड़ाइयों की भी चर्चा होती है। देवी-देवताओं की लड़ाई से तो मिथकों और धार्मिक कथाओं का पूरा संसार ही अटा पड़ा है। तो, मिथिला के लोक समाज में यही सब हो तो क्या अचरज? अगर हम मिथिला के जाने-माने समाजशास्त्री हेतुकर झा (1991) के शोध के ज़रिए देखें तो जाति-लिंग के आधार पर विभाजित मैथिल और भोजपुरी भाषी समाज की शक्ति-संबंधों से लदी संरचना का दर्शन हो

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 94



जाता है। कर्मकांडी मैथिल ब्राह्मणों का प्रभुत्व तो है ही। लेकिन अनेक ऐसी जनजातियाँ भी हैं जिनका दबदबा ज़र-ज़मीन-संपत्ति के बल पर रहा है। इसके अलावा अग्रिम जातियों द्वारा निम्न समझी जाने वाली जातियों पर अनेक प्रकार की हिंसाएँ तो नग्न सत्य हैं। जातिगत हिंसा और भेद-विभेद के बीचोबीच कुछ और संभावनाएँ भी हैं जो मैथिल समाज के सांस्कृतिक रहस्य की तहें खोलती हैं। इस लेख में उन्हीं संभावनाओं में से एक विशेष पहलू पर ध्यान केंद्रित किया गया है। वह पहलू है हास्य-विनोद के द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं की आलोचना। और यह आलोचना भी रिश्ते-नाते से परे नहीं है। धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद और उनसे जुड़ी मानवीय भूमिकाओं पर खिल्ली उड़ाने की परंपरा भी उसी समाज की देन है जिसमें रूढ़िवाद को मज़बूत करने की निरंतर कोशिशें होती रही हैं। साहित्य-संस्कृति के समाजशास्त्र में इस दोहरेपन को समझने की कोशिश होनी चाहिए। इस लेख में आगे हम देखेंगे कि इस दोहरेपन पर मैथिल साहित्य में हरिमोहन झा के खट्टर काका विमर्श में निशाना साधा गया है।

क्लासिकल एंथ्रोपोलॅजी-सोशियोलॅजी के मद्देनज़र हम समाज-संस्कृति-बाज़ार आदि संरचनाओं को संबंधों के नज़रिए से देखते रहे हैं। उन्हीं रिश्तों-नातों से हमें मनुष्य के मौलिक स्वभाव-व्यवहार का ज्ञान हुआ है। हमने देखा है कि जहाँ संबंध हैं वहाँ भेद-विभेद, राग-द्वेष, सहकारिता-संघर्ष सब हैं। उन्हीं संबंधों की परिधि में हास्य-विनोद, हँसी-मज़ाक़, छींटाकशी-उपहास, आलोचना-निंदा आदि का भी व्यवहार है। अक्सर यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि सर्वोपरि क्या है, हमारे रिश्ते-नाते-संबंध या व्यंग्यमय व्यवहार? इस लेख का केंद्रीय विषय यह प्रश्न नहीं है। लेकिन, जब इस लेख में हम सामाजिक व्यंग्यात्मकता पर विमर्श को केंद्र में रखते हैं तब एक तर्क के रूप में यह प्रश्न सामने आ सकता है। मेरा मत है कि यह व्यंग्यात्मकता ही सामाजिक-सांस्कृतिक चक्की को चलायमान रखती है। तभी तो टेरी ईगलटन (2019) जैसे सिद्धांतकारों ने भी हास्य-व्यंग्य को समाज-संस्कृति के बने रहने और उनमें परिवर्तन के लिए भी ज़िम्मेदार माना है। उन्होंने तो यह भी कह दिया कि जैसे-जैसे समाज बदलता है, चुटकुले-परिहास आदि के रूप-गुण भी बदलते हैं। मनुष्य के इतिहास में जिस प्रकार के हँसी-मज़ाक़ को भूतकाल में वर्जित माना गया, वह वर्तमान में या भविष्य में शायद स्वीकृत हो जाए। ईगलटन के साथ अगर हम संस्कृति के इतिहास के पन्ने पलटें तो पाएँगे कि अनेक चुटकुले, जिन्हें भूतकाल में दबी ज़बान में कहा जाता था और बहुत 'प्राइवेट' में सुना जाता था, अब उन्हें सार्वजनिक तौर पर कहा-सुना जाने लगा है। जो कल निजी लगता था, अब सामाजिक स्वीकृति के बाद सार्वजनिक हो गया। अनेक प्रकार के व्यंग्यात्मक लहजे जो भूतकाल में स्वीकृत थे, वे प्रतिबंधित हो गए या हो जाएँगे। उदाहरण के तौर पर, रैडक्लिफ़ ब्राउन (1940) ने आदिम समाज में हँसी-मज़ाक़ वाले संबंधों की चर्चा की। विवाह पर आधारित संबंध जैसे ससुर-दामाद में, सास-बहू में, जीजा-साली-साले में जो हास्य-विनोद का संबंध होता है, उससे उनके रिश्ते में तल्ख़ी नहीं आती।[5] जिस समाज, समय, स्थान और संस्कृति के संदर्भ में रैडक्लिफ़ ब्राउन ने 'जोकिंग

[5] ए.आर. रैडक्लिफ़ ब्राउन (1940) : 195-210.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 95



रिलेशन' की अवधारणा दी थी, संभवतः अब वो जोकिंग रिलेशन अमान्य हो गया हो। पहले हँसी-मज़ाक़ से तल्ख़ी नहीं आती थी, अब शायद उसी हँसी-मज़ाक़ के कारण रिश्ते टूट जाएँगे। मिथिला में भी तो सार-बहनोई (साला-जीजा) के बीच होने वाले हँसी-मज़ाक़ के कितने क़िस्से हैं। जीजा-साली के संबंध में तो इतनी आत्मीयता होती है कि उसके आधार पर कितने रसीले क़िस्से बने। यही नहीं, चाचा-मामा, चाची-मामी आदि के साथ भी हँसी-मज़ाक़ आम बात होती थी। जिसे अंग्रेज़ी में एवंकुलर रिश्ते कहा जाता है, उसमें बड़े ही विनोदात्मक गाली-गलौज का भी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रावधान रहा है। लेकिन यह सब भी बदलता रहा है। आधुनिक शिक्षा, शहरी संस्कृति या नई संवेदना के प्रसार से, या चाहे किसी नई सामाजिक-राजनीतिक चेतना के कारण, संबंधों के हास्य-विनोद में परिवर्तन जग-ज़ाहिर है।

हँसी-मज़ाक़ के मायने समय-स्थान के अनुसार तय होते हैं। इस विचार को पूर्व में महादेव आप्टे (1985) नामक एक एंथ्रोपोलॉजिस्ट ने भी विकसित किया था। हास्य-विनोद के एंथ्रोपोलॉजी पर विस्तृत और सैद्धांतिक चर्चा आप्टे से ही शुरू होती है। स्थान-समाज-संस्कृति-प्रसंग की निर्णायक भूमिका के कारण हास्य-विनोद के स्वभाव को लगभग सापेक्षता के सिद्धांत के ज़रिए देखा गया। जो चुटकुला अमेरिका में कहने- सुनने वालों को गुदगुदाए, वो शायद अफ़्रीक़ा या दक्षिण एशिया में विवाद का कारण बन जाए। सापेक्षता के इस सिद्धांत में आधुनिक विश्ववाद से हटकर एक नई सोच की प्रेरणा है। आप्टे ने उत्तर-आधुनिकता में प्रचलित विचार यथा सत्य की सापेक्षता को हँसी-मज़ाक़ के प्रसंग में भी देखा। अनेक उत्तर-आधुनिकतावादी विचारकों ने भाषा, डिस्कोर्स, लघु परिप्रेक्ष्य और स्थानीयता पर ज़ोर देते हुए 'अनुभवों' की सापेक्षता पर विस्तार से चर्चा की। पॉज़िटिविज़्म यानि सार्वभौमिक तथ्यात्मकता, यानि किसी प्रस्ताव के लिए वैश्विक स्तर पर मान्य प्रमाण के द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक हास्य को नहीं समझा जा सकता है। यहाँ तक कि कुछ स्पष्ट रूप से उपलब्ध प्रामाणिकता भी पर्याप्त नहीं है। विनोदात्मक व्यवहार को समझने के लिए इस प्रकार के सांस्कृतिक व्यवहार के लिए राजनीतिक यथार्थता, दोषमुक्त दृष्टिकोण भी ज़रूरी नहीं होता है। हास्य-विनोद की अपनी सांस्कृतिक राजनीति होती है, चाहे आपको बुरा लगे या भला। सबको समझने के लिए स्थानीय संस्कृति में प्रचलित कोड्स, सूत्रों और संकेतों को स्थानीय सामाजिक परिवेश से जोड़कर देखना ज़रूरी है। इस तरह आप्टे ने बहुत उदारतापूर्वक हँसी-मज़ाक़ की संस्कृति पर प्रकाश डाला। इस लेख में भी यह संभव है कि हास्य-विनोद भरे गल्प में समय-स्थान की सापेक्षता प्रचुर दिखाई पड़े। रिश्ते-नाते, किनशिप के जाल और पारिवारिक-सामाजिक परिवेश आदि गल्पों के मतलब समझने और उनके गूढ़ दार्शनिक महत्त्व के उद्घाटन में बहुत अहम हैं।

खट्टर काका का चरित्र, मैथिल संस्कृति और समाज से जुड़कर, वाद-विवाद-संवाद करता है। उनके इस व्यवहार में उनका भतीजा एक महत्त्वपूर्ण सूत्रधार है। भतीजा प्रश्न करता है और करता ही रहता है क्योंकि काका के हरेक जवाब में एक विमर्श है, और ये किसी भी स्वस्थ

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 96



विमर्श की प्रकृति है कि उससे नए प्रश्न उत्पन्न हों। तो भतीजे के प्रश्नों का सिलसिला नहीं रुकता, और न ही काका का विमर्श। हास-परिहास से भरे इस विमर्श में काका अनेक स्थापित धार्मिक-सामाजिक, सांस्कृतिक-साहित्यिक मान्यताओं को तोड़ते हैं। कितनी ही बार भतीजे को टोकना पड़ता है, वो बार-बार याद दिलाता है कि शायद काका बात का बतंगड़ बना रहे हैं, ज़बर्दस्ती अपने मतलब घुसा रहे हैं, अपना प्रोपगेंडा चला रहे हैं, आदि। पाठकों को कितनी ही बार लग सकता है कि भतीजे का टोकना सही है। क्या सचमुच में काका कोई वाद-विवाद-संवाद नहीं बल्कि बस वितंडा कर रहे हैं, कुतर्क करके हँसा रहे हैं और मान्यता प्राप्त मूर्तियों को ध्वस्त कर रहे हैं? जैसे ही हम काका के विमर्श से दो-चार होते हैं, हमें उनके हँसी-मज़ाक़ में तर्क दिखने लगता है। मतलब में मतलब और बातों में बात सुनाई पड़ने लगती है। चाहे कितने भी हल्के-फुल्के अंदाज़ में कहा जाए, हम समझ सकते हैं कि काका दरअसल किसी विशेष दर्शन का प्रतिपादन कर रहे हैं। उन्होंने जानबूझकर किसी पंडित या दार्शनिक के अंदाज़-ए-बयाँ को नहीं अपनाया है। वे साधारण पद्धति में साधारण लोगों के लिए बिल्कुल साधारण बातें बता रहे हैं, लेकिन इन बातों के परिणाम असाधारण हो सकते हैं। वे कैनन, कैननवादी बौद्धिक संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान से जुड़ी किसी भी महंतशाही को तोड़ना चाहते हैं। वे व्यक्ति, उसके भाव-व्यवहार, प्रकृति-भोग विलास, और उसके संपूर्ण अस्तित्व को दर्शन का केंद्र बना देना चाहते हैं। लेकिन क्या ऐसा करते हुए वे युरोप के प्रबुद्धवाद (एनलाइटेनमेंट) वाले आधुनिक दार्शनिकों जैसे सोचने लगते हैं? संभवतः नहीं, क्योंकि खट्टर काका और उनके रचयिता एक प्रकार की रोज़मर्रे की ज़िंदगी और उससे जुड़ी देहवादी बौद्धिकता के माध्यम से सब कुछ देखने की कोशिश करते हैं। युरोप के एनलाइटेनमेंट में देह की दैहिकता, स्थान की स्थानीयता, समय की सामयिकता और यहाँ तक कि समाज की सामाजिकता आदि से ऊपर उठकर, 'ना जाने किस जगह से' विश्व-दर्शन होता है। इस प्रवृत्ति की भरपूर आलोचना करते हुए दीपेश चक्रबर्ती (2007) सरीखे विद्वानों ने युरोप को प्रोविंशियल दिखाने की बात कही थी। यही नहीं, उन्होंने यह भी बताया था कि उपनिवेशों में भी आधुनिकता कोई हवा-हवाई विचार और व्यवहार नहीं, चाहे उसमें बाहर से आये विचारों का कितना ही प्रभाव हो, उसकी अपनी ज़मीन उपनिवेशों में स्थित समाज-संस्कृति होती है। तो खट्टर काका का प्रबुद्धवाद कोई हवा-हवाईवाद नहीं है। काका विमर्श में लेखक झा का बौद्धिक जीवन, भारत की प्राचीन प्रबुद्ध विधाएँ, विचार-व्यवहार आदि सब मिल जाते हैं।

एक मायने में खट्टर काका का चरित्र और उसके रचयिता श्री हरिमोहन झा का जीवन आपस में गुत्थमगुत्था है। और हो भी क्यों नहीं, आख़िर काल्पनिक चरित्र लेखक के अपने आसपास से, परिवार-समाज से किसी न किसी प्रकार से जुड़े तो होते ही हैं। अनेक उपन्यासकारों ने भी यह स्वीकार किया है। विश्वविख्यात लेखक और साहित्यकार ओरहान पामुक ने भी अपने 2009 में दिए चार्ल्स इलियट नॉर्टन लेक्चर, 'द नाइव ऐंड सेंटीमेंटल नॉवेलिस्ट' (अनुभवहीन और भावुक उपन्यासकार) में ऐसा ही कुछ बताया। पामुक बताते हैं

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 97



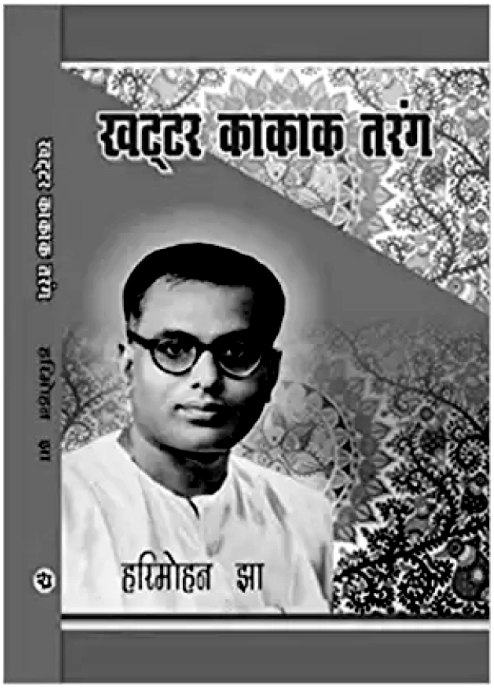


कि हम जानते हैं कि हमारे नींद में देखे सपने सच नहीं होते फिर भी हम उन सपनों के बारे में ऐसे सोचते रहते हैं जैसे या तो वे सच थे या उनका सच से थोड़ा बहुत संबंध हो सकता है। शिलर नामक एक प्राचीन जर्मन दार्शनिक का संदर्भ देकर पामुक हमें कला, साहित्य और जीवन के रिश्ते पर सोचने के लिए बाध्य करते हैं। जब पामुक का उपन्यास *म्यूज़ियम ऑफ़ इनोसेंस* प्रकाशित हुआ तो उनसे बहुतेरे लोगों ने पूछा, क्या आप अपने उपन्यास के नायक केमल हैं? पामुक ने दो विरोधात्मक जवाब दिए – 'मैं केमल नहीं हूँ, लेकिन मैं अपने पाठकों को कभी भी यक़ीन नहीं दिला पाऊँगा कि मैं केमल नहीं हूँ' (2010 : 34)। शायद हरिमोहन झा भी हमें यक़ीन नहीं दिला पाते कि वे खट्टर काका नहीं हैं। या फिर खट्टर काका विमर्श को पढ़ते हुए, उसके हास्य-विनोद का रसपान करते हुए हम भी यह नहीं मान पाते कि हम, पाठकगण, खट्टर काका नहीं हैं।

देशज साहित्य और लोक संस्कृति की तरफ़ जब एंथ्रोपोलॉजी और सोशियोलॉजी रुख़ करते हैं तो एक सबक़ याद रखना निहायत ज़रूरी है। साहित्य-संस्कृति, सामाजिक व्यवहार, हास-परिहास और सबवर्ज़न यानि उलट-पलट करने की बौद्धिक संस्कृति आपस में रचे-बसे होते हैं। उन्हें अलग-अलग करके देखना-समझना अकादमिक सहूलियत के लिए होता रहा है। लेकिन इससे सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक जगत के बारे में संतोषजनक समझ नहीं बन सकती। दूसरा ये कि समय-स्थान, समाज-संस्कृति, साहित्य और हास-परिहास की स्थानीयता और परिवर्तनशीलता होती है। सार्वभौमिक सत्य की तलाश में आधुनिक विधाओं में सांस्कृतिक सापेक्षता को नज़रअंदाज़ किया गया है। इस लेख में देशज साहित्य-संस्कृति का जो समाजशास्त्र है वो उपरोक्त विमर्श की रोशनी में ही हरिमोहन झा और उनकी काका-कृति का अध्ययन कर रहा है। आख़िरी बात जो याद रहनी चाहिए, वह यह है कि साहित्य-संस्कृति आदि का समाजशास्त्र अपरिहार्य रूप से इंटर-टेक्सचुअल होगा। 1960 के दशक में जूलिया क्रिस्टेवा (1966) ने इसका प्रस्ताव देते हुए कहा था कि कोई भी टेक्स्ट स्फूर्त-गतिशील होता है जिसमें प्रक्रियाओं और व्यवहारों के संबंध निहित होते हैं। टेक्स्ट को महज़ एक संरचना या उत्पाद समझ देखेंगे तो हम उस टेक्स्ट में विराजमान नाना प्रकार के व्यवहारों-प्रक्रियाओं और उनके साहचर्य को कभी नहीं समझ पाएँगे। सीमिऑटिक को

प्रधानता देते हुए क्रिस्टेवा किसी भी साहित्य को डिस्कोर्स के भरोसे नहीं छोड़ना चाहती थीं। बल्कि उसमें विद्यमान लक्षणों, संकेतों, प्रतीकों के गुच्छों को निकाल कर देखना चाहती थीं। दरअसल क्रिस्टेवा अपने पूर्ववर्ती विचारक बाख़्तिन की बात को और विस्तार दे रही थीं। बाख़्तिन का विचार यह था कि किसी भी टेक्स्ट को पढ़ते हुए आप ये महसूस कर सकते हैं कि एक शब्द के साये में अनेक और शब्द छुपे होते हैं। किसी भी साहित्यिक या सांस्कृतिक टेक्स्ट में, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, श्रव्य या दृश्य, हरेक स्टेटमेंट की तह में उप-कथन (सब-स्टेटमेंट) होता है। अर्थात हरेक टेक्स्ट अपने गर्भ में भाँति-भाँति के सब-टेक्स्ट दबाए रहता है। अगर हम क्रिस्टेवा के बहुत ही तकनीकी क़िस्म के सीमिऑटिक को दरकिनार भी कर दें तो भी साहित्य-संस्कृति के समाजशास्त्र में इंटर-टेक्सचुअलिटी से इनकार नहीं कर सकते। तो क्या हर्ज़ है अगर काका-विमर्श की विवेचना करते हुए हम उसका संबंध अनेक, अन्य, अद्भुत अवयवों से देखने लगें? ऐसा ही कुछ शेष लेख में होता है।

## *खट्टर काका* और हरिमोहन झा : रचना और रचयिता

1945 में *खट्टर काकाक तरंग* शीर्षक से एक पोथी प्रकाशित हुई। ये मैथिल में थी और कहते हैं कि आधुनिक मैथिल साहित्य में यथार्थवाद का नायाब प्रयोग लेकर आई थी। मैथिल साहित्य के इतिहासकार जयकांत मिश्र (1998) ने हरिमोहन झा को मैथिल में हास्य-विनोद साहित्य की शैली को विकसित और प्रचलित करने में महत्त्वपूर्ण माना है और *खट्टर काका* के चरित्र व विनोदात्मक संवाद को उसी शैली में एक मील का पत्थर। यद्यपि हास-परिहास के साहित्यिक प्रयोग में और भी अनेक नाम लिए जाते हैं लेकिन खट्टर काका की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि उनसे जुड़ी सारी बातें दैनिक-सामाजिक जीवन का हिस्सा बन गईं। 1970 के दशक में जो मैथिली के युवा पाठक थे, वे याद करते हैं कि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर काका के गल्प कितने प्रभावशाली थे। चूँकि इस गल्प में बहुत सारे स्थापित मूल्य तहस-नहस होते हैं, इसलिए अनेक युवकों को इसे पढ़ने की मनाही भी थी। लेकिन जितना प्रतिबंध, उतना ही पढ़ने का आनंद। सत्तर के दशक के पाठकों से सुना जा सकता है कि वे चोरी-चोरी, चुपके-चुपके, भरपूर नाटकीय आनंद के साथ काका-विमर्श पढ़ते और रसों का बखान करते थे।

एक तरफ़ तो हरिमोहन झा को मैथिल साहित्य का ध्रुव स्तंभ माना गया और दूसरी तरफ़ उनके काका विमर्श पर भारी सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन होने लगा। मिलाजुला कर इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि काका के रचयिता झा की अन्य कृतियों की तुलना में *खट्टर काकाक तरंग* सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।[6] इसकी लोकप्रियता के कारण हिंदी भाषा साहित्य के पाठकों की भी रुचि बढ़ी। परिणामस्वरूप, झा को *खट्टर काका* के कुछ गल्पों को हिंदी में लिखना (या कहें तो अनुवाद करना) पड़ा जो *कहानी* और *धर्मयुग* जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। दर्शनशास्त्र के अपने अध्यापकीय जीवन से सेवानिवृत्ति के बाद

[6] रमाकांत मिश्रा (1986) : 107-115.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 99



1971 में हरिमोहन झा ने *खट्टर काका* शीर्षक से एक संपूर्ण पोथी हिंदी में प्रकाशित की।

ओरहान पामुक के अंदाज़ में कहें तो हरिमोहन झा क़तई खट्टर काका नहीं हैं। लेकिन रचयिता और रचना के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभवों में इतना तारतम्य है कि पाठकों को एक अनोखी बात सहज ही सूझ जाए। मैथिल भाषी समाज में जिधर नज़र दौड़ाएँ, उधर एक क्या, अनेक काका निकल आएँगे। और हरेक काका में कमोबेश खट्टर काका का अस्तित्व दिखाई और सुनाई पड़ सकता है। हम बस अनेक संदर्भों के पारस्परिक साहचर्य को समझने के लिए उस समाज और संस्कृति को थोड़ा टटोलेंगे जिसमें हरिमोहन झा पले-बढ़े और अपने लेखकीय जीवन की शुरुआत की। जिज्ञासा है कि रस का वह स्रोत कहाँ है जिसकी चर्चा खट्टर काका यह कहकर करते हैं, रसम पित्वा रसम वदेत।[7]

रस प्रधान गल्प की धारा जिस जगह से फूटती है वह मिथिला के गाँव-शहर, कच्चे-पक्के गली-गलियारे और उनमें भरे लोग ही हैं । और चूँकि यह रस दैनिक-सामाजिक जीवन से संबंधित है तो ऐसा नहीं हो सकता कि इसमें यथार्थ का तीखापन न हो। हरिमोहन झा काका से बुलवा लेते हैं, 'मैं बस रस नहीं परोसता, उसके साथ खटमिट्ठी अचार और थोड़ी सी मिर्ची भी डालता हूँ'।[8] जैसाकि आम तौर पर सामाजिक परिवेश में होता है, थोड़े हास्य-विनोद के ज़रिये यथार्थ की कटुता को जाना-पहचाना जाता है और सोचा-बताया जाता है। कैसे आता है ये सब रचयिता हरिमोहन झा के जीवनवृत्त में?

1984 में अपनी मृत्यु से पहले हरिमोहन झा ने *जीवन यात्रा* शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी थी, जो मरणोपरांत प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने लिखा कि सर्वश्रेष्ठ नाटककार ईश्वर ने समस्त ब्रह्माण्ड को रचा और सबको जीवन रूपी नाटक का पात्र बना कर भेजा। उस नाटक में हरिमोहन झा को एक मसख़रे पात्र की भूमिका दी। ज़ाहिर है कि लेखक ने अपने जीवन में उसी हास-परिहास को जिया और रचा और उसी के माध्यम से अपने तर्क-वितर्क को प्रसारित किया। हास्य-विनोद और सामाजिक संदेश का संगम झा की पहली प्रसिद्ध कृति, 1930 में प्रकाशित उपन्यास *कन्यादान* से ही दिखाई देने लगता है। एक संपूर्ण उपन्यास बनने से पहले *कन्यादान* अनेक धारावाहिकों में बँटी कहानियों के रूप में एक पत्रिका, *मिथिला मिहिर* में प्रकाशित हो चुका था। बिहार के उत्तर-पूर्व में स्थित ज़िला दरभंगा में लहेरियासराय से प्रकाशित पत्रिका *मिथिला मिहिर* उन दिनों साहित्यिक प्रकाशन के लिए प्रसिद्ध थी। उन दिनों युवक हरिमोहन उस पत्रिका में कार्यरत थे और उनसे अनुरोध किया गया था कि वो मिथिला के लिए कुछ कहानियाँ लिखें। उन्होंने जल्दबाज़ी में ही कुछ कहानियाँ लिखीं जो परिष्कृत होकर उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुईं। यह उपन्यास इतना प्रचलित हुआ कि बंगाल के फ़िल्मकार फणींद्र मजूमदार ने इस पर *कन्यादान* नामक मैथिल फ़िल्म भी बनाई, जो मैथिल में बनने वाली पहली फ़िल्म के रूप में प्रतिष्ठित है। लगभग इसी उपन्यास के फ्रेमवर्क को आगे

---

[7] हरिमोहन झा (1971) : 8.

[8] वही : 10.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 100



बढ़ाते हुए हरिमोहन झा ने 1943 में *द्विरागमन* भी लिखा। उसे भी चाव से पढ़ा गया, हालाँकि *द्विरागमन* को वह प्रसिद्धि नहीं मिली जो *कन्यादान* को मिली थी। तदुपरांत उन्होंने 1945 में *प्रणम्य देवता* नामक उपन्यास लिखा जिसकी चुटीली मैथिल, मैथिल ब्राह्मणों के व्यावहारिक जीवन के रसमय और कटाक्षमय विवरण और हास्य-विनोद की पद्धति आदि ने ख़ासी प्रसिद्धि अर्जित की। एक दृष्टिकोण से देखें तो *प्रणम्य देवता* से ही काका सरीखे चरित्रों की प्रधानता दिखने लगती है। काका जैसे चरित्र *कन्यादान* में भी थे लेकिन उनके चरित्र से हास्य-विनोद का अटूट संबंध संभवतः इसी उपन्यास से स्थापित हो पाता है। यही संबंध *खट्टर काका* और *खट्टर काकाक तरंग* में उनके विमर्श का आधार बन जाता है।

मसख़रे झा और अनथक मज़ाक़िये काका का संबंध एक ही समाज और संस्कृति से था। यह वह समाज था जिसके एक हिस्से, यानि गाँव कुमार बाजितपुर में, बालक हरिमोहन का जन्म हुआ था। पिता जनार्दन झा, जिन्हें उपनाम 'जनसीदन' से भी जाना जाता था, हजारी प्रसाद द्विवेदी युग के जाने-माने साहित्यकार थे। बालक हरिमोहन का ग्रामीण लोक-जगत से घर परिवार की महिलाओं के माध्यम से सीधा नाता था। उनकी दादी, जिन्हें सब दैया कह कर बुलाते थे, ग्राम्य संस्कृति को मुँह-ज़बानी बताती थीं। क़िस्से बाँचने में दैया की बेटी, जिसे सब बहिन दाय कहते थे, भी कुछ कम नहीं थीं। हरिमोहन की माँ सारी दुनिया को गीतों-कथाओं में पिरो कर रख देती थीं। ये गपशप, क़िस्से, गीत-नाद, फ़करा-कहबी मिलकर हरिमोहन का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश तैयार करते हैं। उनमें वह सब कुछ था जो युवक हरिमोहन की लेखनी के माध्यम से आधुनिक साहित्य का हिस्सा बन गया। इसमें भूत-पिशाच, दैत्य-दानव, देवी-देवता, सुर-असुर, डायन-जोगिन से लेकर मामा-काका, भाई-भतीजा, काकी-मामी, बहिन-बहनोई तक आराम से एक साथ आ जाते थे। संस्कार-अनुष्ठान और तीज-त्यौहार, पूजा-पाठ और भोज-भात, कुछ भी नहीं छूटता था। ग्राम्य-देहाती जीवन की दरिद्रता से लेकर मानवीय लोभ-लालच, सबसे किसी न किसी तरह का गूढ़ मतलब निकलता उन क़िस्सों में। हरिमोहन इसके अलावा अपने पिता से संस्कृत काव्य और दर्शन की बातें तो सीख ही रहे थे। बालपन में ही अपने पिता के माध्यम से उन दिनों की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका *मिथिला मिहिर* से उनका परिचय हुआ। जनार्दन झा जनसीदन *मिथिला मिहिर* के संपादक थे और ज़िला दरभंगा में उनका दफ़्तर था। इस तरह तरुणाई में ही हरिमोहन का परिचय प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्वों और कामों से होने लगा। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संपादक पिता की फ़ाइलों में से लेखों को पढ़कर हरिमोहन झा ने आधुनिक मैथिल साहित्य में किस उमंग से प्रवेश किया होगा।

बचपन में उनके मानस में जो लोक-संस्कृति की नींव पड़ी, उसमें सामाजिक भेदभाव की समझ भी जुड़ी। उन्होंने अपनी नव ब्याहता पत्नी को शिक्षा और हर उस अवसर से वंचित देखा, जो पुरुषों को प्राप्त होता है। पितृसत्तात्मक मैथिल भाषी समाज, उसमें होने वाले लिंग भेद, स्त्रियों का दोयम स्थान और जाति-भेद आदि सब मिलकर लेखक हरिमोहन झा की

साहित्यिक संवेदना को तैयार करते हैं। उनका अपने समाज से पहला द्वंद्व *कन्यादान* उपन्यास में स्पष्ट दिखता है। स्त्री को पराया धन, दूसरे के घर की लक्ष्मी मान कर उसके साथ होने वाले भेदभाव को झा बड़ी ही शालीनता के साथ एक स्वाभाविक, सहज, स्वत: स्फूर्त नारीवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। उनका नारीवाद किसी स्थापित बौद्धिक धारा से सीधा नहीं जुड़ता लेकिन एक उदारवादी दृष्टिकोण से स्त्री-पुरुष के भेद की आलोचना करता है। आधुनिकता के इतिहास के इस चरण में उदारवाद (लिबरलिज़म) ही सबसे प्रभावशाली मॉडल था। औपचारिक शिक्षा के माध्यम से उसी दृष्टिकोण और मूल्यों का प्रसार होता था।

हरिमोहन झा को औपचारिक शिक्षा और दैनिक संघर्ष से भी एक लेखकीय दिशा मिली। स्नातक उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य में किया। बीसवीं सदी की पहली चौथाई में पटना महाविद्यालय उत्कृष्ट शिक्षा का केंद्र था। युवक हरिमोहन एक मेधावी छात्र थे और अंग्रेज़ी साहित्य की पढ़ाई में अव्वल रहे। लेकिन आर्थिक सुविधा के अभाव में उन्हें बी. ए. करने के बाद अर्थोपार्जन में लगना पड़ा। थोड़ी जमा-पूँजी होने के बाद स्नातकोत्तर की पढ़ाई का विचार था। उन दिनों प्रसिद्ध लहेरियासराय, दरभंगा स्थित साहित्यिक प्रकाशन के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र, पुस्तक भंडार में नौकरी भी की। वहाँ उन्होंने कुछ लोकप्रिय कुंजियाँ भी लिखीं। 'तीस दिनों में अंग्रेज़ी' या 'तीस दिनों में संस्कृत' जैसी कुंजियों की अच्छी-ख़ासी बिक्री भी हुई। इसी दौरान उन्हें हिंदी, मैथिल और अन्य भाषाओं के साहित्य को जानने और समझने का मौक़ा मिला। उन्हें लगा कि मैथिल साहित्य में व्याप्त आदर्शवाद के बदले यथार्थवाद को प्रबल बनाने की ज़रूरत है। इस नवीनता में उनकी अपनी साहित्यिक रचनाएँ पुरज़ोर योगदान करती हैं।

बाद में हरिमोहन झा पटना विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। आधुनिक दर्शन से लेकर प्राचीन भारतीय दर्शनों पर उनकी पकड़ की चर्चा होने लगी। उन्होंने अनेक दार्शनिक समीक्षाएँ भी लिखीं। इन सबको समेटते हुए उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुरोध पर एक ट्रेंड रिपोर्ट लिखी जो *ट्रेंड्स ऑफ़ लिंगविस्टिक एनालिसिस इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी* शीर्षक से प्रकाशित हुई (1981)। इस ग्रंथ से विद्वान हरिमोहन झा की दार्शनिक क्षमता और विश्लेषण दक्षता की विस्तृत जानकारी मिलती है। इस रिपोर्ट में प्राचीन भारतीय दर्शन को उन्होंने बारीकी से सहेजते हुए समीक्षात्मक अध्ययन किया था। न्याय, मीमांसा, वेदांत, व्याकरण, अलंकार शास्त्र आदि को एक साथ लाकर झा कमोबेश वही प्रश्न पूछ रहे थे, जो दुनिया के उन हिस्सों में पूछे जा रहे थे, जहाँ आधुनिक दर्शनशास्त्र का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। लेकिन विशेष बात यह थी कि झा की समीक्षा का स्रोत पूर्णतः स्थानीय था। यानि उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय प्रबुद्ध समाज में जिन प्राचीन संसाधनों के आधार पर महज सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नारे लगते थे, उन्हीं संसाधनों को दार्शनिक झा कुछ ऐसे प्रश्नों की तरफ़ मोड़ रहे थे जो महज़ स्थानीय-देशी-क्षेत्रीय नहीं थे। जैसे हमारी स्पीच कैसे अस्तित्व में आती है? इसमें भाषा और भाषा के अलावा भावों की क्या भूमिका है, हम अपनी और एक-दूसरे की बातों को कैसे समझ पाते हैं, आदि-आदि।

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 102



समझने-समझाने की प्रक्रिया में दर्शन के कैसे गूढ़ रहस्य छुपे हुए हैं? क्या भारतीय हरमेनुटिक्स वैश्विक स्तर पर प्रचलित हरमेनुटिक्स के दर्शन को नवीनता प्रदान कर सकता है? हरिमोहन झा के दार्शनिक विमर्श को देखते हुए इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे ज़ेहन में उभर सकते हैं। युरोप में दर्शन और समाज विज्ञान में जिसे लिंग्विस्टिक टर्न या भाषाई मोड़ कहा जाता है, लगभग वही शंखनाद भारत में हरिमोहन झा कर रहे मिलते हैं यद्यपि इसमें वे अकेले नहीं थे। इस क्षेत्र में भारतीय दर्शनों के आधार पर समीक्षात्मक विश्लेषण करने वाले दार्शनिकों में बी. के. मतिलाल और जे. एन. मोहंती सरीखे लब्धप्रतिष्ठित दर्शन के विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी शृंखला की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में हरिमोहन झा के दार्शनिक योगदान को देखने की ज़रूरत है।

हरिमोहन झा की जीवनी की इस बेहद संक्षिप्त प्रस्तुति से जो बात ज़ाहिर होती है, उसे एक बार दोहरा देना चाहिए। क्योंकि उद्देश्य उनकी जीवनी को दुहराना नहीं है, इसलिए लेखनी के उपरोक्त हिस्से में जो सूचना दी गई है, उसे हेगिओग्राफ़ी, यानि प्रशंसा में की गई स्तुति नहीं माना जाए। इस निरीक्षण का उद्देश्य महज़ यह देखना और दिखाना है कि लेखक-रचयिता-मसख़रे पात्र हरिमोहन झा के अनुभव का दायरा कितना व्यापक था। इसमें लोक संस्कृति से लेकर आधुनिक बौद्धिक प्रगति तक का विस्तार है। साथ ही साथ, इस विस्तार से जुड़ी सीमाएँ भी हैं जो उन्हें सीधे-सीधे अंतर्राष्ट्रीय पटल पर बौद्धिक वाद-विवाद में जाने से रोकती हैं। उन सीमाओं का संबंध लेखक झा की आर्थिक स्थिति से भी रहा ही होगा। आर्थिक संसाधन एकत्र करने के बाद ही उन्होंने पटना दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर किया और 1933 में बी.एन. कॉलेज पटना में पढ़ाने लगे। इसीलिए यथार्थवाद का झंडा उठाए हरिमोहन झा, अंततः कह गए – 'मुझे क़िस्से-कहानियों के प्लॉट तो मिलते रहे लेकिन ज़मीन का कोई प्लॉट नहीं मिल सका'।[9]

काका के हास्य-विनोद के बीचोबीच हमें लगता है कि उत्तर-औपनिवेशिक मैथिल समाज में व्याप्त स्थिति पर एक प्रकार का गुस्सा भी ज़ाहिर हो रहा है और काका के विमर्श को सुनते हुए हम ये भी समझ सकते हैं कि दरअसल मैथिल समाज की भी प्रायः वही बीमारियाँ रही हैं जो शेष भारतीय समाज या किसी भी ऐसे समाज में पाई जाती हैं जहाँ बुद्धि-विवेक पर ताला लगा कर प्रगति की कल्पना की जाती है। एक तरह से कहें तो काका रुके हुए समाज पर हँसते-हँसते चुटकी लेते हैं।

## कैसे हैं काका?

एक प्रश्न उठ सकता है : हरिमोहन झा के खट्टर काका आधुनिकतावादी हैं या परंपरावादी? जब *खट्टर काकाक तरंग* का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था तो किसी आलोचक ने

[9] रमाकांत मिश्रा (1986) : 115.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 103



मिथिला मिहिर में *खट्टर काका* को पाश्चात्य रंग में रँगा हुआ बताया था। अभी भी ऐसा ही होता है, अगर कोई आलोचनात्मक हो तो उसे तुरंत दूसरे दल का घोषित कर दिया जाता है। अगर दक्षिणपंथी नहीं तो निश्चय ही कॉन्ग्रेसी होंगे। उसी तरह अगर हरिमोहन झा परंपरावादी नहीं तो ज़रूर पाश्चात्य आधुनिकवादी होंगे। हरिमोहन झा ने इस तरह के आलोचकों को पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में जवाब दिया। जवाब में एक नया गल्प जोड़ दिया था। क्या काका सचमुच पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करते हुए भारतीय परंपरा की आलोचना करते हैं? राष्ट्रवाद के जिस ऐतिहासिक चरण में खट्टर काका गढ़े गए और उनका विनोदी संवाद प्रचलित हुआ, वहाँ आधुनिकता की आलोचना प्रबुद्धों का एक स्थापित व्यवहार था। दूसरी तरफ़, पश्चिमी-आधुनिक मूल्यों को बढ़ावा देने वाले समाज सुधारकों द्वारा पारंपरिक व्यवहार की आलोचना का भी प्रचलन था। ऐसे में खट्टर काका आधुनिकता के साथ भी दो-दो हाथ करते हैं। उनके विमर्श का सबसे बड़ा हिस्सा पारंपरिक व्यवहार और साहित्य-संस्कृति को समर्पित है। लेकिन कैसे? बड़ा उभयार्थक है काका का परंपरा प्रेम। संस्कृत साहित्य से लेकर धार्मिक मान्यताओं पर वे रसीले कटाक्ष करते हैं। लेकिन उन्हें आधुनिक पद्धति का रैशनलिस्ट (हेतुवादी) कहना कठिन है। आधुनिक समाज में संस्कृति की विकृति को सामने रखते हुए काका कहते हैं :

> सांस्कृतिक कार्य माने नाच। एहि हिसाबें संस्कृतक पंडित महा असंस्कृत छथि।[10]

जब किसी ने टोका कि काका, भारतीय समाज को परंपरा और आधुनिकता के समन्वय की ज़रूरत है, तो वो बिफर पड़े। उनके हिसाब से ये भारत के प्रबुद्ध वर्ग का एक बड़ा आडंबर है जिसमें वे दो बौद्धिक-वैचारिक, सामाजिक-व्यावहारिक पद्धतियों का घालमेल करते हैं। अपने परिहासात्मक अंदाज़ में काका कहते हैं :

> कोन प्रकारें समन्वय करय कहैत छह? आब सँ शिवजी के माथ पर 'सोडावाटर' ढारि दिऐन्ह? भगवानक नैवेद्यमे 'बिस्कुट' चढ़ा दिऐन्ह? भगवती कैं आँचरक बदला 'गाउन' ओढ़ा दिऐन्ह? कुल देवता कैं 'लिपस्टिक' लगा दिऐन्ह? श्राद्ध में 'केक' ल क पिंड दी? ब्राह्मण भोजन करा क हाथमें 'बिल' द दिऐन्ह? जनउ धोबक हेतु 'लौंड्री' दिऐक? तोरा काकी कैं अंगरेजीमे समदाउनि गाबय कहिऐन्ह?[11]

उनके ऐसा कहने पर उनके भतीजे ने हैरानी दिखाई। क्योंकि काका प्रायः प्राचीन, यानि परंपरागत को दूसते थे। किसी को भी ऐसा लगेगा कि काका स्थानीय समाज के वैसे ही

[10] हरिमोहन झा (2011) : 200.

[11] हरिमोहन झा (2011) : 10.

रैशनलिस्ट हैं, जैसे युरोप में एनलाइटेनमेंट जैसे दार्शनिक आंदोलन के प्रणेता थे। लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं था। स्वाधीन भारत में अनेक दशकों तक समाज वैज्ञानिकों में परंपरा और आधुनिकता के रिश्ते को लेकर कुछ आज़माए हुए फ़ॉर्मूले, यानि वैचारिक नुस्ख़े प्रचलित थे। सब आधुनिक और पारंपरिक के बीच के तनाव, उनकी संधि और सामंजस्य आदि को देखने को तत्पर थे। कोई युरोपीय आधुनिकता को भाव देता तो कोई परंपरा की ओर झुक जाता। ऐसे में एक आवाज़ ये भी उठी कि परंपरा में भी एक स्थानीय आधुनिकता का मर्म है। इतिहास को खँगाल कर देखा और दिखाया गया कि प्राचीन भारत में भाषाओं के आधार पर कॉस्मोपॉलिस हुए जो लोगों, जातियों, वर्गों आदि को जोड़कर एक भारतीय सार्वभौमिकता का निर्माण करते थे। शेल्डन पोलॉक (2006) का संस्कृत कॉस्मोपॉलिस इसका एक उदाहरण था और इसी दिशा में मध्ययुगीन फ़ारसी, हिंदी, तमिल और उर्दू कॉस्मोपॉलिस के भी विचार आए। इसी क्रम में सबाल्टर्न इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने अनेक उद्धरणों के द्वारा स्थानीय संस्कृतियों पर प्रकाश डाला। दीपेश चक्रबर्ती (1999) ने बंगाली संस्कृति के दैनिक अड्डों पर चर्चा करते हुए दिखाया कि गपशप की अनौपचारिक व्यवस्था और व्यवहार में भी एक प्रकार का स्थानीय तर्कवाद-हेतुवाद-अनुभववाद है।[12] मोटा-मोटी बात ये निकलती है कि स्थानीय समाज और संस्कृति में परंपरा और आधुनिकता, दोनों ही शब्दों के पीछे एक विस्तृत अवधारणा है और इसकी भी रैशनलिस्ट है। अतः दोनों शब्दों को दो दल बना कर पक्ष-विपक्ष में खड़ा करना कोई बहुत प्रगतिशील विचार नहीं है। सभी स्वाधीन हुए पूर्व उपनिवेशों में वहाँ की स्थानीय आधुनिकता की खोज करते हुए लगभग इसी तरह की बहसें सामने आई हैं। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें काका आधुनिक और परंपरा के बीच मचे पक्ष-विपक्ष की बौद्धिक राजनीति से प्रस्थान करते हैं। किसी तरह के दृष्टिकोण के प्रति वफ़ादारी उनके दर्शन के विरुद्ध है। काका बेबाक कहते हैं, हमें हँसने के लिए विवश करते हुए :

> हौ, हम की ककरो नाम बहिखाता लिखी देने छियैक? हमर पित्ती मटर झा कहथिन्ह – जय जगदम्बा, जय जगदीश! जे देत दही-चूड़ा तकरे दीस। जकर खेबैक, तकर गेबैक। जेहन खेबैक, तेहन गेबैक।[13]

ज़ाहिर है कि काका की निष्ठा और वफ़ादारी किसी एक दृष्टिकोण की तरफ़ नहीं थी। वे तो खान-पान, रस-प्रेम, मेल-भाव आदि के नज़रिये से देखने की बात करते हैं। उनके अपने तात्कालिक स्वार्थ-रुचि आदि उनके लिए ज़्यादा टिकाऊ स्तंभ हैं। निजी स्वार्थ और सामाजिकता का विचित्र मेल है इसमें। यहाँ स्वार्थ और सामाजिकता में भेद नहीं। आख़िर सामाजिकता भी तो एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इस विषय पर आधुनिक समाज विज्ञान में भी

[12] दीपेश चक्रबर्ती (1999) : 109-145.

[13] हरिमोहन झा (2011) : 215-216.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 105



भरपूर चर्चा होती है। इमैनुएल कांट की धारणा की आलोचना करते हुए समाजशास्त्री एमिल दुर्खाइम ने उन्नीसवीं सदी में सामाजिकता पर लिखे अपने दो ग्रंथों, द *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी* और द *एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलिजियस लाइफ़* में ऐसी ही अवधारणा दी थी। कांट ने 'केटेगोरिकल इम्परेटिव', यानि निष्पक्ष अनिवार्यता के आधार पर सामाजिक व्यवहार, संबंधों और सांस्कृतिक गतिविधियों की बात की थी। उनके बाद अनेक दार्शनिकों ने सामाजिक-संधि, कॉन्ट्रैक्ट आदि को आधार बना कर स्वस्थ सामाजिकता का विचार दिया था। दुर्खाइम ने समाज में होने वाली गतिविधियों, सांस्कृतिक-धार्मिक क्रियाकलापों को ही सामाजिकता के बने रहने के लिए उपयुक्त माना था। यानि समाज के अंदर ही एक प्रकार की ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है जो सामाजिकता को बनाए रखती है। उसमें होने वाली उठापटक, तोड़फोड़ को भी दुर्खाइम सामाजिकता के लिए लाभप्रद ही बताते थे। कोई अपराध करे, नियमों का उल्लंघन हो, कोई दुर्घटना आदि हो तो सामाजिकता और प्रबल हो कर सामने आती है। ये था दुर्खाइम का फ़ंक्शनलिज़्म, जिसमें हरेक घटना-दुर्घटना समाज के लिए फलीभूत होती थी। लेकिन कांट से लेकर दुर्खाइम तक को छोड़ कर हमारे खट्टर काका आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। उन सब आधुनिक दार्शनिकों के लिए व्यक्ति, समूह के सामने या तो गौण या दोयम था। इसीलिए तो स्ट्रक्चर और एजेंसी, यानि आधुनिक समाज विज्ञान में सामाजिक संरचना और व्यक्तित्व की भूमिका के बीच तनाव बना रहता है। और उसी तनाव को कम करने के लिए उत्तर-आधुनिकता या उत्तर-संरचनावादी दृष्टिकोण प्रभावशाली बन कर उभरता है। हमारे खट्टर काका उस व्यक्ति-समूह के तनाव से परे, भाव-संवेदना-रस और अस्थायिकता को प्रमुखता देते हैं। रचयिता झा ने काका से तरंग के दूसरे संस्करण की भूमिका में भी यह बात कहलवा लिया :

> हौ, हमर की कोनो स्थायी विचार रहैत अछि? जखन जे सूरमे चढ़ि गेल। ई रस-लहरी सभक हेतु थोड़बे होइ छैक? जिनका ओतेक रस नहि पचतेन्ह से विष-वमन करथुन्ह। छौ-मसिया नेना कैं यदि एक बाटी आमक गारा पिया दहौक त की हाल हैतैक?[14]

मामला साफ़ है। काका अपने गल्प उन्हीं के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं जिनकी बौद्धिक पाचन शक्ति इतनी पुख़्ता हो कि वे रस को पचा सकें। उनका कोई भरोसा नहीं, वे किसी भी तरफ़ जा सकते हैं। उनकी ये व्यक्तिगत विशिष्टता दरअसल में सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार है। इसमें अस्थायी होना, मज़ेदार बातें करना, स्थापित मूल्यों की तोड़फोड़ करना कोई विडंबना नहीं बल्कि एक सहज व्यवहार है। लेकिन उनके वार्ताकार भतीजे को विमर्श के सूत्रधार की भूमिका में यह बात पचती नहीं। भतीजा तो वैसे ही सोचता है जैसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में दक्ष कोई विद्वान। उनके अनुसार काका या तो इस तरफ़ या उस तरफ़ होंगे। या तो आधुनिक या पारंपरिक

[14] हरिमोहन झा (2011) : 11.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 106



होंगे। या तो काका को परंपरावाद के अनुसार प्रजातंत्र को एक ऊटपटांग व्यवस्था मान लेना चाहिए या फिर एक अच्छे नागरिक की तरह चुपचाप वोट डालने के बाद नेताओं की भक्ति करनी चाहिए। काका आधुनिक राजनीति की लोकतंत्र जैसी एक उत्कृष्ट अवधारणा को भी नहीं बख़्शते। लोकतंत्र या जनतंत्र को काका 'थोकतंत्र' कह कर मज़ाक़ उड़ाते हैं। इसमें विचार, प्रश्न, और इरादे का कोई मतलब नहीं, बस संख्या का महत्त्व है। इसमें वैसे ही ठग होते हैं जैसे ससुराल में साले-सालियाँ, पत्नी के भाई-बहन होते हैं।

अलबत्ता काका कभी भी किसी समाज-सुधार या बहुत बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन के उद्देश्य से कुछ नहीं कहते। वे ख़ुद भी मैथिल ब्राह्मण जैसे दिखते हैं। एक विशेषाधिकार है उनकी अपनी सामाजिक अवस्थिति का। अपने सामाजिक स्थान का त्याग नहीं करते हैं काका, कभी यज्ञोपवीत तोड़कर सामाजिक और आनुष्ठानिक विशेषता का त्याग नहीं करते। वो साधारण बने रहते हैं, जैसे सब लोग हैं और फिर बोलते रहते हैं कि ये विशेषाधिकार एक गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक साजिश का नतीजा है। वे अपने आप को उसी परदे में रखते हैं जिसका पर्दाफाश कर रहे होते हैं। एक तरह से वे उसी डाल को काटते हैं, जिस पर बैठे हैं। लेकिन ऐसा कभी नहीं लगता कि यह कोई मूर्खता है। बल्कि काका का दर्शन ही ऐसा है जिसमें नश्वरता उतनी ही आवश्यक है जितना जीवन को भरपूर जीना। देह से प्रेम और उसकी लीला उतनी ही पवित्र है, जितना इसका पतन। एक विचित्र देहवाद है खट्टर काका का। संभवतः यही कारण है कि काका-विमर्श से एक विचित्र और प्रायः वांछनीय समाजशास्त्र तथा मानव विज्ञान का उद्भव संभव है। एक प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक 'साधारणता' है जिसके तहत हर वे बात महत्त्वपूर्ण हो जाती है जिसे मठाधीशों ने, गंभीर वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने संदेह की नज़र से देखा था। इसीलिए भंग की तरंग में रहते हुए भी, हँसते-खिखियाते हुए भी न तो काका का दर्शन से ध्यान हटता है, न ही उनके श्रोताओं और पाठकों का।

हरिमोहन झा ने कल्पना का सहारा लेते हुए अपने पात्र खट्टर काका से (*खट्टर काकाक तरंग* के प्रथम संस्करण की भूमिका में) कहा कि वे उन पर किताब लिख रहे हैं। लेखक की लेखकीयता से ज़्यादा वे हतप्रभ हुए विषय-वस्तु के बारे में। काका ने कहा, 'केहन बलेल छह? बलहुँ अपनों गारि सुनबह, हमरो सुनैबह'!

स्वभावतः काका ने इस प्रस्ताव को हँसी में उड़ाया और झा को बताया कि कोई नहीं पढ़ेगा ऐसी किताब। उन्होंने अपने आप को बदनाम बताया। कोई उन्हें भंगेड़ी, कोई नास्तिक, तो कोई चार्वाक का चेला कहता है। उनकी किसी से पटती भी नहीं, सबसे झगड़ा होता रहता है। और क्यों न हो, काका ठहरे आले दर्जे के मुँहफट, जो जब सही लगता बोल देते। न तो आगे-पीछे देखते, न भूत-भविष्य नापते, तो भला 'मुँह में राम बगल में छुरी' कैसे रखते। ऐसे व्यक्ति की बात में भला किसी की क्या दिलचस्पी हो सकती है। लेकिन लेखक को बहुत भरोसा है कि काका की बातें लोगों तक पहुँचाई जाएँ। उनका मानना है : 'अहाँक गप्प तेहन रोचक होइत अछि जे झगड़ो कैनिहार कैं रस भेटैत छैन्ह। जखन अहाँक गप्प छपत त गारिओ

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 107



देनिहार रातिमे चोरा क पढ़बे करताह।'

हरिमोहन झा अपने आप को भी भरोसा दिला रहे हैं और अपने काका को भी कि *तरंग* में प्रस्तुत गल्प को सुना और समझा जाएगा। काका की बात उनके आलोचक भी सुनेंगे, चाहे छुप-छुप के ही क्यों न सुने-पढ़ें और ऐसा ही हुआ। 1970 और 1980 के दशक में कितने ही मैथिल भाषी परिवारों के संस्कारवान लोगों ने *खट्टर काकाक तरंग* को लगभग वैसे ही छुप-छुप कर पढ़ा, जैसे वे कोई कामोत्तेजक सस्ता साहित्य हो। संभ्रांत मैथिल समाज को बड़ी उलझन हुई। एक तरफ़ वे हरिमोहन झा की साहित्यिक उपलब्धि पर गर्व करना चाहते थे, दूसरी तरफ़ वे समझ नहीं पा रहे थे कि *खट्टर काका* के विमर्श को किस प्रकार समझा जाए। हरिमोहन झा ने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी थी काका की प्रासंगिकता को समझाने में। काका को मैथिल लोक परंपरा में स्थापित करने के लिए उनका संबंध मध्यकालीन राजसी विदूषक गोनू झा से बताया। काका के विमर्श की गूढ़ता दिखाने के लिए उन्हें संत कबीर से जोड़ा। मिथिला के प्रसिद्ध तर्कशास्त्री, नव्य-न्याय के प्रतिपादक, गणेश उपाध्याय से भी उनका संबंध बताया लेकिन फिर भी दुविधा बनी रही, क्योंकि काका के विमर्श पर सबसे ज़्यादा रंग था प्राचीन दर्शन के उस धड़े का, जिसे हम लोकायत के नाम से जानते हैं। स्वयं काका भी बारंबार चार्वाक का नाम लेकर कितनी बातें सुनाते रहते हैं। खट्टर काका एक तरह से लोकायत दृष्टिकोण को पुनर्जन्म देते हैं।

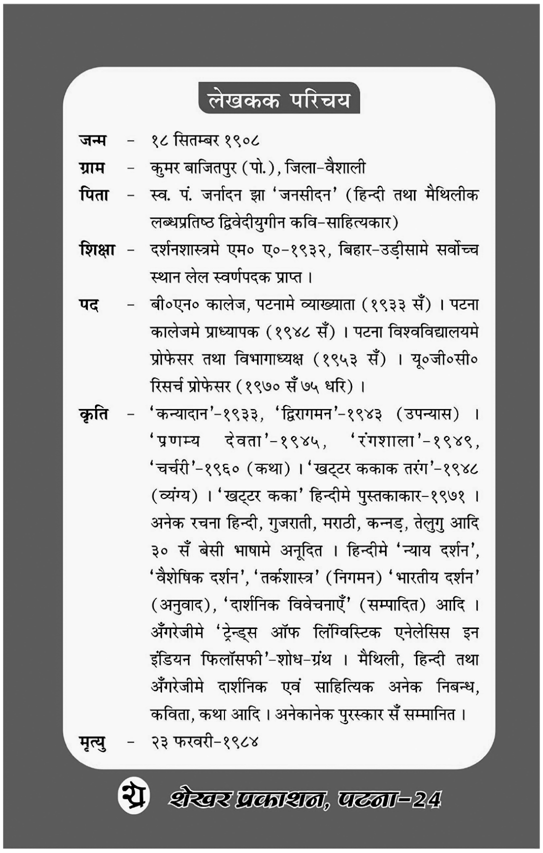

**लेखकक परिचय**

**जन्म** - १८ सितम्बर १९०८

**ग्राम** - कुमर बाजितपुर (पो.), जिला-वैशाली

**पिता** - स्व. पं. जर्नादन झा 'जनसीदन' (हिन्दी तथा मैथिलीक लब्धप्रतिष्ठ द्विवेदीयुगीन कवि-साहित्यकार)

**शिक्षा** - दर्शनशास्त्रमे एम० ए०-१९३२, बिहार-उड़ीसामे सर्वोच्च स्थान लेल स्वर्णपदक प्राप्त ।

**पद** - बी०एन० कालेज, पटनामे व्याख्याता (१९३३ सँ) । पटना कालेजमे प्राध्यापक (१९४८ सँ) । पटना विश्वविद्यालयमे प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष (१९५३ सँ) । यू०जी०सी० रिसर्च प्रोफेसर (१९७० सँ ७५ धरि) ।

**कृति** - 'कन्यादान'-१९३३, 'द्विरागमन'-१९४३ (उपन्यास) । 'प्रणम्य देवता'-१९४५, 'रंगशाला'-१९४९, 'चर्चरी'-१९६० (कथा) । 'खट्टर ककाक तरंग'-१९४८ (व्यंग्य) । 'खट्टर कका' हिन्दीमे पुस्तकाकार-१९७१ । अनेक रचना हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तेलुगु आदि ३० सँ बेसी भाषामे अनूदित । हिन्दीमे 'न्याय दर्शन', 'वैशेषिक दर्शन', 'तर्कशास्त्र' (निगमन) 'भारतीय दर्शन' (अनुवाद), 'दार्शनिक विवेचनाएँ' (सम्पादित) आदि । अँगरेजीमे 'ट्रेन्ड्स ऑफ लिंग्विस्टिक एनेलेसिस इन इंडियन फिलॉसफी'-शोध-ग्रंथ । मैथिली, हिन्दी तथा अँगरेजीमे दार्शनिक एवं साहित्यिक अनेक निबन्ध, कविता, कथा आदि । अनेकानेक पुरस्कार सँ सम्मानित ।

**मृत्यु** - २३ फरवरी-१९८४

शेखर प्रकाशन, पटना-24

## अथ श्री खट्टर काका विमर्श

चाहे संस्कृत साहित्य हो या धर्म ग्रंथों पर आधारित सामाजिक मान्यताएँ, खट्टर काका सबको अपने तर्क की कसौटी पर कसते हैं। सबसे पहले तो संस्कृत साहित्य, यानि वैदिक और उपनिषदों की चर्चा करते हैं। काका भी वही कहते हैं जो हमने आधुनिक समाज विज्ञान, बौद्धिक इतिहास आदि में सुना है। दर्शन समाज के अनुसार बनता है। एक समाज था जिसमें अभाव में जीते हुए कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। उस प्राचीन समाज में जो भी

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 108



व्यक्ति अभाव और कठिनाई से जूझता था, वह उसके बारे में शिकायत करने की बजाय उसको जीते हुए वैचारिकी का अनुसरण करते हुए चिंतन-मनन करके जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में मदद करता, और वही सबसे ज़्यादा बुद्धिमान माना जाता। तो वेदों और उपनिषदों का ज्ञान ऐसे ही बुद्धिमानों ने दिया। अभाव और कठोर जीवन जीते हुए, 'मन-मसोस' कर रहने का ज्ञान। काका कटाक्ष करते हैं कि उन विद्वानों ने अभाव और कठिनाई को महिमामंडित किया। वैसे पंडितों-ज्ञानियों को कहा जाता है – 'फटकनाथ गिरधारी, जिनका लोटा नै थारी'! यानि कि भूख से बिलबिलाये महापंडित जिनके पास लोटा-थाली भी नहीं है!

उन ज्ञानियों-पंडितों ने जो भी दर्शन दिया, अपने अनुभव की परिधि के अंदर दिया। उदाहरण के लिए काका बताते हैं कि सुबह-सुबह अँधेरे में ही ऋषिगण शौच-स्नान करने जाते, रस्सी-लकड़ी देखकर साँप का भ्रम हो जाता और उसी के अनुसार सत्य और भ्रम का दार्शनिक सिद्धांत बना दिया। संसार भ्रम है, इसमें दुःख है क्योंकि जीवन कठोर है और पूर्णतः हमारे बौद्धिक नियंत्रण में नहीं। इसीलिए संसार से मुख मोड़ कर मोक्ष ढूँढ़ने पर बल दे दिया। ऐसे बेचारे विद्वानों की बात हम क्यों आँख मूँद कर मानें?

ऐसी बातें सुनकर हमेशा की तरह प्रश्नकर्त्ता भतीजे को आपत्ति होती है। भतीजे ने बताया कि उन महान ज्ञानी-ऋषियों को समझ में आ गया कि सांसारिक सुख क्षणिक है, इसलिए वे संसार के भौतिक सुख के त्याग की बात करते थे। ये सुनते ही काका तपाक से पूछते हैं – रसगुल्ला खाने से जो सुख मिलता है वह भी तो क्षणिक है, क्या तुम रसगुल्ला खाना छोड़ दोगे? पेशाब करने से जो राहत मिलती है वह भी तो क्षणिक है, क्या तुम पेशाब करना बंद कर दोगे? और मैथिल लोग जो इतनी मछली खाते हैं वो तो एकदम बंद हो जाना चाहिए। मछली में काँटा होता है। ऐसा सुख क्यों लें जिसमें काँटे जैसी कठिनाई हो। काका ऋषि याज्ञवल्क्य की अपनी पत्नी को कही बात को दुहरा कर अपने सिद्धांत को गढ़ते हैं – सर्वमात्मयं जगत! 'अर्थात अपनी आत्मा वा स्वार्थ ल क ई संसार छैक' (पृ. 199)। ये संसार तभी है जब हमारा अपना स्वार्थ, सुख, भोग है। नहीं तो क्या संसार, क्या आत्मा-परमात्मा?

काका स्वयं को, निजी सुख-दुःख को दर्शन के केंद्र में लेकर आना चाहते हैं। उनके लिए व्यक्ति, उसका सुख-दुःख ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसी सिद्धांत पर वे अनेक मार्गों और संदर्भों पर बल देते रहते हैं। प्रत्येक दर्शन के मूल में भोग-भावना को देखने-दिखाने की उनकी कोशिश इसी दिशा में है। इसके अलावा कैनन, यानि ग्रंथों की सत्ता को ध्वस्त करने के लिए एक सरल रास्ता उन्होंने अपनाया। हरेक कैनन को समाज और संस्कृति से जोड़ कर देखने-दिखाने और समझने-समझाने से उसके इर्द-गिर्द जो अनावश्यक महिमामंडन होता है, वह तार-तार हो जाता है। ऐसा करने से बड़े-बड़े धार्मिक और सांस्कृतिक ग्रंथ जनसाधारण के दैनिक जीवन, भोग-विलास, भाव-विचार के बहुत नज़दीक आ जाते हैं।

काका देखते और दिखाते हैं कि कैसे न्याय दर्शन को ऋषि गौतम ने लिंग-व्यभिचार-भोग की उपमाओं से सींचा और उसमें उनकी पत्नी अहिल्या के साहचर्य का निश्चय ही योगदान होगा। ऋषि कपिल की पत्नी नहीं थीं इसलिए उनके द्वैतवाद में प्रकृति ही वह सुख

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 109



प्रदान करती है, जो स्त्री के संसर्ग में संभव है। और तो और, काका तो अद्वैतवादी शंकर के दर्शन में भी इसी प्रकार भोग-विलास और सुख की कल्पना पाते हैं। माया न हो तो अद्वैतवाद का क्या तात्पर्य? इसलिए इन दार्शनिक ऋषियों के बारे में काका बेहिचक कहते हैं :

> हिनका लोकनि कैं नीक जकाँ विवाह-द्विरागमन होइतैन्ह त ऐना कियैक छिछिएतैथ? वियोग सँ योगक प्रादुर्भाव होइ छैक।।। योगसूत्र ओ कामसूत्र, दुनू मासियौते। चौरासी भोगासनक नकल पर चौरासी योगासन बनल अछि (पृ : 200)।

ज़ाहिर है, काका की ऐसी बातें सुनकर भतीजे को झुँझलाहट होगी और वह किसी प्रकार से काका को चुप कराने की कोशिश भी करेगा। आख़िर काका एकदम से सभ्यता को उलट-पुलट रहे थे। प्रायः भतीजा इसी उद्देश्य से प्रतिरोधात्मक प्रश्न करता है लेकिन प्रतिपक्ष भी काका की बौद्धिक आग में घी बन जाता है। जैसे भतीजे ने काका को सुनाया कि ऐसा नहीं है, सांख्य दर्शन में, वेद-वेदांत में, बड़े ही प्रतापी-त्यागी पुरुषों की कल्पना भी हुई है। काका ने जैसे जवाब दिया उसे भतीजे ने 'ठांइपटाका' अलंकार से सुशोभित किया; ठांइपटाका, जैसे बंदूक से गोली छूटी हो। काका ने कहा :

> सांख्यक पुरुषक नाम नहि लैह। हमरा त तेहन तामस चढ़ैत अछि जे कसि क एक भंगघोटना लगावी। ।।। प्रकृति नाच करौ, क्रीड़ा करौ, सभ किछु करौ, आ पुरुष चुपचाप पड़ल टुकुर टुकुर तकैत रहथु। एहनो पुरुष कतहु पुरुष कहाबय। माउगि ने मरद, बलिगोबिना! (पृ. 200)

माने यह कि सांख्य दर्शन में जो पुरुष की कल्पना है उसके बारे में तो पूछिए मत, काका ग़ुस्से से आग-बबूला होने लगते हैं। वे कहते कि कैसा पुरुष है जो चुपचाप टुकुर-टुकुर देखता रहता है और उसके सामने प्रकृति नाच-गान, काम-क्रीड़ा करती रहती है। ये पुरुष न तो औरत है न मर्द, एक तरह का बीचबीचौवा जैसा है। ऐसा कहकर काका दरअसल लैंगिक-सामाजिक धारणाओं का पक्ष ले रहे हैं। उन्हें पुरुष से वही उम्मीद है जो समाज में साधारण पुरुष से होती है। उनकी नज़र में जो सौंदर्य, प्रेम, कामुकता, स्नेह से लबरेज़ हो वही पुरुष और स्त्री मान्य है।

दरअसल काका को किसी भी पुरुष और स्त्री से मनुष्यता की अपेक्षा है। वे यह सोच ही नहीं पाते कि कोई उन इच्छाओं-आकांक्षाओं से आज़ाद होगा जिनसे हम मनुष्य बने हुए हैं। भला मूलभूत तत्वों से बढ़कर कोई कैसे हो सकता है? और मनुष्य जैसा होगा, उसका दर्शन भी वैसा ही होगा। संभोग और समाधि, दोनों ही मनुष्य को प्रिय हो सकते हैं तो काका के नज़रिये में दोनों को अलग करके देखना मूर्खता है। जैसे वे सांख्य दर्शन में कल्पित पुरुष को मौगा यानि अस्पष्ट जेंडर पहचान वाला मानते हैं, उसी तरह वेदांत में कल्पित ब्रह्म को नपुंसक मानते हैं। दोनों के ही सामने वे सच के रूप में खड़ा देखते हैं, क्रमशः प्रकृति और माया को।

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 110



यही दोनों सच का रहस्योद्घाटन करने वाली हैं। इसीलिए काका विस्तारपूर्वक भोग-संभोग का वर्णन करके दिखाते हैं कि कैसे हमारे धर्मशास्त्र उनसे परे नहीं। वेदों के ऋषियों को रसिक कहकर काका यज्ञ के वर्णन को इस प्रकार समझाते हैं :

> आगि स्त्री थीक। सिल्ला जननेंद्रीय थीक। धुआँ रोइयाँ थीक। ज्वाला स्त्रीक गुप्तांग थीक। लुत्ती जे झड़ै अछि से आनंदक कण थीक। आहुति वीर्य थीक। ताहि सँ गर्भ होइत छैक (पृ. 203 )।

काका कहते हैं कि इन इच्छाओं-आकांक्षाओं, भोग-संभोग की कल्पना से अद्वैतवादी शंकर भी अछूते नहीं थे। उन्होंने शंकर के शब्दों में ही यह ज़ाहिर किया, 'स्वयं शंकराचार्येक मुँह सँ व्याख्या सुनि लैह। न कांचन स्त्रियं स्वातमतल्पप्राप्तां परिहरेत समागमार्थिनीम, अर्थात समागम चाहयवाली जे स्त्री शय्या पर आबि जाथि तिनका नहि छोड़क चाहि।' (पृ. 204)। इसी तरह पूरे संदर्भ के साथ, उद्धरण देते हुए काका साबित कर देते हैं कि भोग-संभोग ही परम सत्य है। वेद, उपनिषद, वेदांत, गीता आदि सभी ग्रंथों में मूल सिद्धांत यही है जो घूम-फिर कर सत्यापित होता रहता है।

घबराकर भतीजे को पूछना पड़ता है, तब इन ग्रंथों में और वाम मार्ग में क्या फ़र्क़ है? तांत्रिक व्यवहार पद्धति को वाम मार्ग कहते हैं जिसका उद्धरण लोकायत दर्शन में भी आता है। इसके अनुसार मांस भक्षण, मदिरा पान और मैथुन क्रिया आदि जैसे तथाकथित वर्जित भोग के माध्यम से ही साधना होती है। इसमें साधक, साधन और साधना के केंद्र में व्यक्ति की देह, उसकी अनुभूतियाँ आदि होते हैं। विद्वानों ने वाम का एक दूसरा मतलब 'औरत' भी बताया है। तो क्या सभी धार्मिक ग्रंथों में वाम मार्ग के ही द्वार खुलते हैं? ऐसे प्रश्न पर काका को अपना निर्णय सुनाने का सुनहरा अवसर मिलता है। 'वेदे-वेदांत सँ त वाममार्ग बहराएल अछि। पाप-पुण्य बुड़िबक लेल होइ छैक। जे पारंगत छथि तिनका हेतु धर्म की और अधर्म की?' (पृ. 204)

काका जिन ग्रंथों की आलोचना करते हैं, उन्हीं से उन्हें उन्मुक्त बौद्धिकता का रास्ता भी मिलता है। उनकी परंपरा की आलोचना में विध्वंस नहीं बल्कि एक नए दृष्टिकोण की रचना है जो उन्हीं पारंपरिक स्रोतों से बनती-सँवरती है। काव्य की चर्चा करते हुए वे फिर से वही राग सुनाते हैं। उनके अनुसार संपूर्ण काव्य सौंदर्य-भोग और काम-संभोग के विवरण से भरा पड़ा है। उनका मानना है कि प्रेम का वर्णन करने वाले कवि उमर खय्याम भी फीके पड़ जाएँगे इन संस्कृत और सुसंस्कृत कवियों के यौन-सुखप्रद काव्य के सामने।

एक बार उनका भतीजा किसी नवसिखुए कवि के साथ काका से मिलने आया। काका खाट में नेबार घोर रहे थे, यानि खटिया में पट्टियाँ लगा रहे थे। युवक कवि काका को अपनी कविता सुनाकर उनसे अपनी तारीफ़ सुनने के लिए व्याकुल था। कविता प्रेम जैसे विषय पर थी और काका ठहरे प्रेम रस के प्रेमी। लेकिन काका ने बिना समय गँवाए उस नवसिखुए कवि

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 111



को टोका और बताया कि उसकी कविता में अलंकारों के माध्यम से अंग-प्रत्यंग, काम-वासना का जो विवरण है, उसमें नया कुछ नहीं। अलंकारों के प्रयोग से, भाषा के सौंदर्य से, साफ़-सुथरे तरीक़े से काव्य में वही बातें कही जाती हैं जो हम सब साधारण जीवन में जानते और करते हैं। उन्होंने प्राचीन कवियों की प्रशंसा करते हुए जो बताया, वह सब उनके दर्शन को फिर से सशक्त करता है। काका अगर तारीफ़ भी करें तो उसमें भी दो-एक हाथ लगा ही देते हैं। उन्हें तनिक भी मंज़ूर नहीं कि संस्कृत-सुसंस्कृत करने, सौंदर्य में चार चाँद लगाने के नाम पर सीधे-सपाट-सरल सत्य को उलझा दिया जाए। काव्य का अलंकृत सत्य और साधारण जीवन का निर्वस्त्र सत्य, जिसे कवि-कोविद और बुद्धिजीवी अश्लील कहेंगे, दोनों एक हैं। और ऐसा करते हुए काका ने पकड़ा मध्यकालीन मिथिला के महाकवि विद्यापति को, जो मिथिला में घर-घर पूज्य हैं। उन्होंने बताया कि कैसे विद्यापति ने संभ्रांत संस्कृत काव्य के रस को जनसाधारण के लिए उपलब्ध कराया, 'पहिने नायिकाक संभोग वर्णन केवल संस्कृत काव्यमे रहैत छलैक। साधारण लोक ओहि रस सँ वंचित रहैत छल। देवभाषाक ओहि रस कैं ई लोकभाषा मे ल अनलन्हि। फलस्वरूप सभ केओ 'कचकुचकटाक्ष' क आस्वादन करय लागि गेल। एही माधुर्यक कारण विद्यापति ग्रामीण जनताक कंठहार बनि गेलाह। यदि हुनका पदावली सँ 'कुच' काटि देल जाइन्ह त की रहि जैतैन्ह? केवल नचारी।' (पृ. 214)

कवि विद्यापति को मैथिल के पुराने स्वरूप यानि कि अवहट्ट भाषा में काव्य लिखने के लिए जाना जाता है। उनके बहुतायत काव्य भक्ति भाव में हैं। देवी भगवती के लिए उन्होंने देवी के गीत लिखे और शिव की स्तुति अर्चना के लिए नचारी। ऐसे काव्य के कारण उन्हें मिथिला के घर-घर में प्रतिष्ठा प्राप्त है और उनकी लिखी नचारी महिलाएँ प्रेम से गाती हैं। काका उसमें एक नया आयाम जोड़ रहे हैं ये बता कर कि विद्यापति प्रेम-भोग आदि को भी जनसाधारण के जीवन से जोड़ते हैं। उनकी एक कविता में नायिका कहती है, 'झाँपब कुच दरसाएब आध', या फिर दूसरे में 'उनत उरोज चिर झपबै, पुनि पुनि दरसाय'।

यहाँ तक कि विद्यापति की शिव भक्ति में भी काका को यौन सुख का सार दिखता है और वे उद्धरण देते हैं एक नचारी का, 'सुतल समापि सुतल वर नागर, पानि पयोधर आपी कनक शंभु जनि पूजि पुजारी, धएल सरोरुह झाँपि' (पृ. 176)।

यदि बौद्धिक तौर पर भोग-संभोग सुख के लिए धार्मिकशास्त्र हैं और मन के उत्तेजनात्मक सुख के लिए संस्कृत-सुसंस्कृत काव्य तो तन के लिए क्या है? यद्यपि सबका संबंध अंततः देह से ही है, लेकिन देह के लिए अलग से विज्ञान भी तो है भारतीय परंपरा में। भतीजे को लगा शायद देह के विज्ञान की तरफ़ लाकर वह काका को निःशब्द कर देगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उस तरफ़ भी काका अपने दर्शन पर अड़े रहे। उनका कहना था :

> जहाँ विज्ञान कनेक माथ उठौलक कि तुरंत कविता-कामिनी आबि क छाती पर सवार भ जाइत छथिन्ह। आयुर्वेद कैं काव्य तेना भ क ग्रसित कैने छैक जे भावप्रकाश ओ भामिनी-

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 112



> विलासमे विशेष अंतर नहि। एहि द्वारें हम वैध लोकनि कैं कवि कहैत छिऐन्ह। कवियों में साधारण कवि नहि, कविराज।। महादेव कैं वैद्यनाथ किऐक कहल जाइ छैन्ह से जनैत छह? (पृ. 32)

काका बताते हैं कि शिव में सभी जड़ी-बूटियों का ज्ञान का भण्डार तो है ही लेकिन काव्य कंचन कामिनी का अनुराग भी भरपूर है। ये सब कहकर काका चिकित्सा शास्त्र में कोकशास्त्र दिखाने लगते हैं। एक में रसायन और दूसरे में रस, तो दोनों का संबंध तो होना ही है। एक तरह से शिकायत है कि काव्य और रस में विज्ञान डूबा हुआ है। लेकिन साथ ही काका को ख़ुशी है कि ऐसा भ्रम बना है, जिससे विज्ञान भी हमारे दैनिक जीवन के अनुभूतियों में उलझा हुआ दिखता है। आर्युवेद के उद्गम के विषय में ही काका ऐसा विचार देते हैं कि सब स्पष्ट हो जाता है। आयुर्वेद में ही उपलब्ध संस्कृत श्लोक का उद्धरण देते हुए काका बताते हैं :

> जखन वृद्ध च्यवन भोग करबामे असमर्थ भ गेलाह तखन आदिवैद्य अश्विनीकुमार रसायनक जोर सँ हुनका पुनः युवा बना देलथिन्ह। जेना आदिकवि कैं क्रौंच पक्षीक मैथुनेच्छा सँ काव्यक प्रेरणा भेटलैन्ह, तहिना आदिवैद्य कैं वृद्ध मुनिक भोग-तृष्णा सँ आयुर्वेदक प्रेरणा भेटलैन्ह। एक अनुष्टुप छंदक आविष्कार कैलन्हि, दोसर च्यवनप्राशक (पृ. 35)।

जब सच इतना सरल है कि हमारे दर्शन, काव्य और ज्ञान-विज्ञान, सब हमारी मूलभूत मानवीय इच्छाओं के अनुरूप होते हैं तो भला धर्म-विश्वास के आधार पर आडंबर की क्या आवश्यकता? यही प्रश्न है जो काका के पूरे विमर्श में मुँह खोले हमारी तरफ़ ताकता है। उसी प्रश्न का मुँह और खुल जाता है जब काका *रामायण* और *गीता* जैसे धार्मिक ग्रंथों पर अपनी विनोद भरी टीका का निष्पादन करते हैं। *रामायण* को लेकर अनेक प्रचलित सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध काका का अपना एक विशेष नज़रिया है। जैसे ही भतीजे ने कहा कि *रामायण* में रामचंद्र जी ने न्याय की मर्यादा को जीवन्त किया, काका क्रोध से तमतमा उठे। उन्होंने एक-एक करके ऐसे उद्धरण दिए जिससे रामचंद्र के मर्यादा पुरुषोत्तम होने पर संदेह हो जाए। उन्होंने बताया कि रामचंद्र जी की शिक्षा में ही खोट थी। इसीलिए वे स्त्री के साथ अन्याय करने में दक्ष हो गए। अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं *रामायण* में – किसी स्त्री पर तीर चलाना, किसी की नाक कटवा लेना और अपनी सीता जैसी सुशीला पत्नी को किसी की बातों में आकर छल करके जंगल भिजवा देना। सीता के मामले में तो काका क्रोध और भावुकता से उद्विग्न हो उठते हैं। उन्हीं के शब्दों में :

> सीता सं देवी के एहन करुण अंत! ओ भरि जन्म राम कैं सेवलन्हि। हुनक तोषार्थ आगि पर्यन्तमे कूदि पड़लिह। परंतु ओहि सर्वश्रेष्ठ सतीक प्रति हुनका लोकनिक केहन व्यवहार भेलैन्ह? आठम मासमे घर सँ निकालि बाहर क देलथिन्ह। एहन बेइज्जती सँ त कंठ दबा क मारि दितथिन्ह से

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 113



> नीक। बेचारी मिथिलाक कन्या छलि। सी अक्षर बाजयवाली नहि, तैं। दोसर ठामक रहितैन्ह टी बुझा दितैन्हि। हौ हम पुछैत छिऔह, जौं संबंधे तोड़बाक छलैन्ह त बापक घर जनकपुर पठा दितथिन्ह। ओहन घोर जंगल में कोना पठाओल गेलैन्ह?। विश्वक इतिहास में आइ धरि एहन अन्याय ककरो संग नहि भेलैक अछि। स्वाइत पृथ्वी फाटि गेलीह (पृ. 41)।

काका जिन कारणों से रामचंद्र की निंदा कर रहे हैं, उसे समझना बहुत कठिन नहीं। सीता गर्भवती थीं और आठवें महीने में थीं। ऐसे में आमतौर पर पत्नी की सेवा की जाती है, ध्यान रखा जाता है। अगर स्थिति अनुकूल न हो तो गर्भवती स्त्री और उसके गर्भ को जान का ख़तरा होता है। इसकी बजाय उनके पति ने उन्हें त्याग दिया। जिस रिश्ते में भावना, आत्म-सम्मान, और प्रेम का भाव नहीं, उस संबंध में कैसी मर्यादा और उसमें क्या होगा कोई पुरुषोत्तम। काका ने पूरी *रामायण* को छान-छान कर हर उस घटना के आधार पर राम और उनके वंशजों की निंदा की, जिसके लिए उन्हें समाज में सम्मान दिया जाता है। ऐसा करते हुए वे ही मूल्यों को महत्त्व देते हैं जो मनुष्य के सबसे क़रीब होते हैं। वह 'साधारण मनुजता' का मूल्य जिसके बारे में हम लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे। इसी मनुजता के मूल्य की परिधि में काका रामचंद्र को सम्मान भी देना चाहते हैं। इसके पीछे वे बस एक ही कारण बताते हैं :

> जे दोसर विवाह नहि कैलन्हि। जानकीक प्रतिमा बनाक शेष जीवन बितौलन्हि। एही बात पर हम हुनकर सभटा कसूर माफ़ क दैत छिऐन्ह। सीते ल क रामक महत्त्व। तैं पहिने सीता तखन राम (पृ. 44)।

यही तर्क गीता विमर्श में भी फिर से सुनाई पड़ता है। *महाभारत* जैसे महाकाव्य की बखिया उधेड़ने के बाद काका गीता के मूल दर्शन यानि अनासक्ति योग की धज्जी उड़ाते हैं। वे कृष्ण के उपदेश में दोहरापन दिखाते हैं। एक तरफ़ तो कहते हैं कि फल की सोचे बिना कर्म करो और दूसरी तरफ़ अर्जुन को लोभ देते हैं, कभी हस्तिनापुर पर राज करने का और कभी स्वर्ग जाने का! काका के शब्दों में, कृष्ण कहते हैं, 'हो अर्जुन! यदि मरबह त स्वर्ग भेटतौह। जितबह त राज्य भेटतौह। दुनू हाथ में लड्डू छौह। तैं उठह और लड़ह' (पृ. 129)।

काका को लगता है कि निष्काम कर्म का विचार विरोधाभासी है। जब कर्म है तो निष्काम नहीं होगा। निष्काम होना भी तो एक कामना है। भतीजे ने टोक कर काका को समझाने की कोशिश की लेकिन जैसा हमेशा होता है – पासा उल्टा पड़ गया। काका ने तो गीता में उद्धृत मृत्यु और मरणोपरांत धारणाओं का भी खंडन कर दिया। जहाँ भी उन्हें मानवीय भावनाओं पर गीता कमज़ोर दिखती, काका चढ़ जाते। कहते कि अगर मरना बस चोला बदलने जैसा है, देह नश्वर है, संसार भंगुर है, तो बस इसी बात पर युद्ध बंद हो जाना चाहिए था। *महाभारत* युग से ही विश्व शांति की शुरुआत हो जानी चाहिए थी लेकिन ऐसा कुछ हुआ तो नहीं। यानि मामला गड़बड़ है। इस दर्शन में खोट है। सच यह है कि संसार ही सच है। देह ही सच है। देह

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 114



नहीं तो क्या इहलोक और क्या परलोक। देह से ही भोग-संभोग, सुख-दुःख और यहाँ तक कि ऋषियों की मोक्ष की महत्वाकांक्षा भी है। देह को देखो, सुनो, जानो, पहचानो और देह-दर्शन की तरफ़ लौट चलो। इसमें कोई उपभोक्तावादी संस्कृति नहीं, बल्कि देहवादी दर्शन है जो मनुजता को रूढ़िवाद से मुक्त कर समाज-संस्कृति के मूलभूत तत्वों की तरफ़ ले जाता है। यह होता कैसे है और कैसे काका का देहवाद आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं को कैसे तोड़ता है, इस पर हम लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे।

## काका का देहवाद-लोकायत और लोक ज्ञान

ऐसा नहीं कि देह आधुनिक और पाश्चात्य विचारों में गौण थी लेकिन देह की दैहिकता संदिग्ध थी। आधुनिक समाज विज्ञान में बीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में दैहिकता एक विषय-वस्तु के रूप में स्थापित हुई। अलबत्ता देह पर जिरह आधुनिकता के प्रारंभिक चरणों में शुरू हो गई थी। देह और विवेक के संबंध में अनेक चर्चाएँ हैं और दोनों का संबंध प्रायः सौतेला जैसा होता है, एक प्रबल तो दूसरा संदिग्ध। अगर विज्ञान के दार्शनिक कार्ल पॉपर (1963) की मानें तो इस विस्तृत क़िस्से का संक्षिप्त रूप दिलचस्प है। वे बताते हैं कि प्राचीन ग्रीक से लेकर आधुनिक हेतुवादी तर्कवादी अनुभववाद में भी देह की दैहिकता को त्याग कर ही ज्ञानोत्कर्ष और मनुष्य की स्वतंत्रता की कल्पना की गई। देह की दैहिकता, धर्म की धार्मिकता, संस्कृति की सांस्कृतिकता और यहाँ तक कि प्रकृति के प्राकृतिक गुणों आदि से एक विशेष प्रकार के युरोपीय आधुनिक हेतुवाद को ख़तरा महसूस हुआ। पॉपर ने बताया कि मनुष्य की मनुजता को उसकी ज्ञान-विज्ञान की खोज और बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए बाधक माना गया। इसीलिए आधुनिक विज्ञान और उसके समाज वैज्ञानिक जुड़वे पॉज़िटिविज़्म को एक प्राधिकार बनाया गया। इसके अनुसार जो विज्ञान और उसके हेतुवाद-तर्कवाद-अनुभववाद से भटकेगा, वह कभी ज्ञानी नहीं होगा और उसका बुद्धि-विवेक दोयम दर्जे का ही होगा। इस प्रकार के वैज्ञानिकों ने सत्ता के विरुद्ध अनेक बौद्धिक और दार्शनिक मुठभेड़ें कीं। पॉपर ने भी अपनी 'सेन-सोसाइटी', यानि स्वस्थ चित्त वाले समाज की अवधारणा में वैज्ञानिकता को मानवता से जोड़ने की दार्शनिक पहल की। इसके अलावा एक तरफ़ फ्रैंकफर्ट स्कूल के अंदर मैक्स होर्ख़ेइमर और अडोर्नो (1979) का साझा शंखनाद था, जिसमें उन्होंने आधुनिक विज्ञान के जनक युरोप के एनलाइटेनमेंट आंदोलन को अधिनायकवादी (टोटलिटेरियन) बताया। दूसरी तरफ़ नारीवादी समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों और विचारकों का अनथक प्रयास था, जिसमें आधुनिक विज्ञान और पॉज़िटिविज़्म को स्त्री के अनुभवों को समझने में अक्षम कहा गया। स्त्रीवादी विमर्श में देह की दैहिकता, स्थान की स्थानीयता, समाज की सामाजिकता आदि को केंद्र में लाने की कोशिश की गई। डोना हारावे (1988) ने इसे 'सिचुएटेड-नॉलेज' के मुहावरे के रूप में प्रतिपादित किया।[15] ये एक तरह से देह, स्थान, समय, स्थिति और व्यक्ति की

[15] डोना हारावे (1988) : 575-599.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 115



अवस्थिति से उत्पन्न ज्ञान था। इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान में महिलाओं के शारीरिक, सामाजिक, स्थानीय आदि अवयवों का समावेश होता है। देह की दैहिकता समेत जानने-समझने की इस आधुनिक विधा से कुछ नई दिशाएँ खुलती हैं। देह को लेकर जो विचारधारात्मक रस्साकशी होती रही है, उसका एक विस्तृत ब्यौरा ब्रायन एस टर्नर (2012) ने एक हैंडबुक में इकट्ठा किया। ऐसा लग सकता है कि जब पॉज़िटिविज़्म संदेह के दायरे में आया, तभी फ़ेनोमेनोलॉजी, फेमिनिज़्म, मेडिकल एंथ्रोपोलॉजी, क्वीयर थ्योरी, उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांतों और दर्शनशास्त्र आदि में देह की तरफ़ ध्यान गया। एक तरह से देह और अनेक बाह्य अवयवों का गुत्थमगुत्था रिश्ता दिखने लगा। समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थ-वाणिज्य और यहाँ तक कि विज्ञान भी देह से जुड़े अंग-प्रत्यंग की तरह दिखने लगे। धर्म, उपभोक्तावाद, वर्ण, लिंग, चिकित्सकीय परंपरा, विज्ञान और व्यवहार, तकनीकों के नेटवर्क आदि देह को परिभाषित करने वाले कारक के रूप में देखे गए और देह के आधार पर भूमंडलीकृत संसार की परिकल्पना की गई। यही वह संक्षिप्त रूपक है, जिसमें अनेक सिद्धांतकारों के 'ऑन्टोलॉजिकल टर्न' को भी देखा-समझा जाता है। ऑन्टोलॉजी एक तरह का सत्व शास्त्र है, जिसमें व्यक्ति, समष्टि, संस्कृति आदि के सजीव, स्थान-निहित, सारभूत अनुभवों के आधार पर समझ का विकास किया जाता है। ऐसी ही पृष्ठभूमि में दार्शनिक द्वय गोपाल गुरु और सुंदर सारुक्कई (2019) ने समाज को सेंसोरियम के माध्यम से समझने की सलाह दी। सेंसोरियम यानि ऐंद्रिक अनुभव का एक वृहद संसार, जिसका संबंध हमारे दैहिक माध्यमों यथा पाँच इंद्रियों से होता है। समाज और संस्कृति, उनमें निहित राजनीतिक मायने हम देख, सूँघ, सुन, चख, छू सकते हैं। समाज-संस्कृति, धर्म-जाति, लिंग-वर्ग आदि सब महज शब्द नहीं। ये सब गंध, ध्वनि, ठोस, दृश्य, स्वाद आदि के रूप में हमारे चारों तरफ़ अनुभव के लिए उपलब्ध होते हैं।

तो देह और दैहिकता के प्रकाश में देखे जाने वाले ज्ञान का अच्छा-ख़ासा विमर्श बुना जा सकता है। काका का देहवाद आज उतना हतप्रभ न करे, जितना बीसवीं सदी के आठवें दशक तक उसने किया तो देह और दैहिकता के प्रकाश में देखे जाने वाले ज्ञान का एक अच्छा-ख़ासा विमर्श बुना जा सकता है। ख़ास ये है कि यह देहवाद एक प्राचीन और लगभग विस्मृत परंपरा के आधार पर है। जैसा हमने देखा, काका-विमर्श में बार-बार देह और दैहिक गुणों पर विशेष बल दिया गया है। काका के रचयिता हरिमोहन झा भी काका से अनेक बार चार्वाक का संदर्भ दिलवाकर सांसारिकता के पक्ष में दलील प्रस्तुत करते हैं। जैसाकि हमने इस लेख के प्रारंभ में देखा, काका का संबंध अनेक काव्य और दार्शनिक था। नव्य न्याय की तर्कवादी पद्धति से लेकर, गोनू झा की चतुर बुद्धि, कबीर की प्रेम-भक्ति और तंत्र ज्ञान की वामवादी पद्धति, सबकी अनुगूँज काका-विमर्श में सुनी जा सकती है। लेकिन झा और उनके माध्यम से काका चार्वाक के दर्शन को निरंतर याद कराते रहते हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि चार्वाक कोई दैवी या पैशाचिक शक्ति है, जिसके हवाले से काका वह सब कहे जा रहे हैं जो अन्यथा कहना कठिन है। और यह सब एक ऐसे समाज में, जहाँ देवी-देवता, नेता-अभिनेता,

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 116



ज्ञानी-विज्ञानी और यहाँ तक कि आस-पड़ोस के लोगों पर प्रश्न उठाना लगभग पाप मान लिया गया है। ऐसे में चार्वाक उस अभेद्य-अविजित साये की तरह हैं जिसकी आड़ में काका हमें गुदगुदाते-हँसाते और खीझ दिलाते हुए तोड़फोड़ मचा देते हैं। इसी साये में काका की तोड़फोड़ आम जीवन में होने वाली घटना जैसी लगती है। ये सबवर्जन की वह कला और संस्कृति है, जिसकी जड़ें अत्यंत साधारण समाज में उपस्थित हैं। ये समाज आम तौर पर लोक-समाज है, जिसमें लोक विद्या (फोकलोर) का वर्चस्व है। यद्यपि उसी फोकलोर में रूढ़िवादी व्यवहार और दृष्टिकोण को भी जगह मिलती है। लोक संस्कृति की रूढ़िवादिता के मद्देनज़र, आधुनिकता से प्रेरित उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के समाज सुधारकों ने लोक पर तंज कसे, आलोचनाएँ कीं और उनसे अलग रहने की सलाह दी। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। बंगाल में अनेक नामों से होने वाले समाज और धर्म सुधार की गतिविधियाँ थीं। यहाँ तक कि मध्य और दक्षिण भारत में भी निम्न जाति के उत्थान के लिए विभेदात्मक रूढ़िवादी लोक संस्कृति से मुक्ति का आह्वान किया गया था। इस विषय पर अनेक इतिहासकारों ने लिखा है जिनमें से राधा कुमार (1993) भी हैं, जिन्होंने स्त्री दृष्टिकोण से इस की विवेचना की है। सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से डॉक्टर भीमराव आंबेडकर ने तो स्पष्ट रूप से लोक संस्कृति को हिंदुओं और अग्रिम जातियों का प्रपंच बताया था।

ऐसे में खट्टर काका लोक संस्कृति से ही अपने बौद्धिक, भाषाई और सांस्कृतिक अस्त्र ढूँढ़ कर निकालते हैं। जैसे उनके लिए मनुष्य की देह, वैसे ही समाज-संस्कृति की देह। वे देह से ही देह को दर्पण दिखाते हैं और उसके रूप-रंग, चाल-ढाल, विश्वास-व्यवहार की व्यंग्यात्मक-आलोचनात्मक विवेचना करते हैं। आख़िर मैथिल समाज में ही सामाजिक मान्यताओं को हिला देने वाले फ़करा-कहबी, डाक-वचन, गीत-नाद, नाच-तमाशे आदि की पुरानी परंपरा रही है। इन सब पारंपरिक ज्ञानों में कोई स्कूल की पाठ्यपुस्तक जैसा साफ़-सुथरा पाठ थोड़े ही होता है। इनमें तो बिना लाग-लपेट के दोनों लक्ष्य दिखाई देते हैं – सामाजिक व्यवस्था बनाए रखना और उसी व्यवस्था की आकृतियों विकृतियों पर उपहास करना! (देवनाथ पाठक 2019)। खट्टर काका इसी जटिल फोकलोर को पकड़े रहते हैं।

जैसे इन दिनों विशेष राजनैतिक दल और नेता के लिए भक्ति का घनघोर बादल छाया हुआ है, ऐसे में भी मैथिल भाषी गाँवों में कुछ बच्चे मिलकर गलियों में दौड़ते हुए नारा लगाते हुए सुने जा सकते हैं, जो मूलतः एक फकरा है – पूरी जिलेबी तेल में, आ फल्लाँ नेता जेल में! फल्लाँ, मतलब फलाने, दरअसल में एक ख़ाली जगह जिसमें समय के अनुसार नाम भरे जाते हैं। फल्लाँ, फलाने की जगह पर राजनीतिक इतिहास के बदलते पन्नों के अनुसार नाम डालने की पुरानी परंपरा रही है। जो कोई बहुत बन रहा हो, डींगें हाँक रहा हो, छप्पन इंच का सीना दिखा रहा हो तो गाँवों और शहरों में काका सरीखे बड़े-बुज़ुर्ग उपहास के साथ कहते हैं – अपने नहाए छी झांट दहाय अइछ! अगर सीधा-सपाट शाब्दिक अर्थ में सोचें तो इसका मतलब होता है अपना शरीर तो नहाने में गीला है लेकिन शरीर के गुप्तांग के बाल हैं कि आंधी-तूफ़ान बनकर उड़ रहे हैं। यहाँ तक जातियों की भी हँसी उड़ाई जाती है। चाहे वह ब्राह्मण का

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 117



घर हो या दुसाध का, महिलाएँ किसी न किसी लोकगीत के ज़रिए कह ही देती हैं – बकलेल बभना (बेवकूफ़ ब्राह्मण)। रोज़मर्रे की आपसी बातचीत में ऐसी अनेक कहावतें और लोकोक्तियाँ मैथिल भाषियों की ज़ुबान पर ऐसे रहती हैं, जैसे किसी प्रचलित सिनेमा का कोई भयंकर प्रचलित गाना। यही वह संदर्भ है, जिसमें काका का चार्वाक के साथ प्रेमालाप दैनिक जीवन में होने वाली, लगभग साधारण सी बात लगती है।

चार्वाक के साथ काका के मेलजोल से किस प्रकार की देहवादी सोच बनती और सँवरती है यह समझने के लिए थोड़ा चार्वाक और उनके लोकायत दर्शन का स्मरण करते हैं। यह आसान नहीं है क्योंकि चार्वाक और लोकायत दर्शन लगभग मृतप्राय मान लिया गया है। उसका संदर्भ भी टुकड़ों में, आंशिक रूप में उपलब्ध टीकाओं और अन्य विश्लेषणों में ही मिलता है। महाभारत में भी आंशिक रूप से चार्वाक अथवा वृहस्पति नामक विचारक का संदर्भ आता है। जिन ग्रंथों, टीकाओं, विश्लेषणों में लोकायत का संदर्भ है, वे भी प्रायः यही साबित करने के लिए कि चार्वाक या वृहस्पति और उनकी सोच कितनी अनुपयुक्त, निकृष्ट, अहितकर थी और उसका ग़ायब हो जाना लाज़िमी था। ऐसे विचारों को असुर-विचार भी कहा गया। स्पष्ट है कि असुर वे साधारण लोग थे, जो ब्राह्मणों की तरह वेद-ऋचाएँ गाने में पारंगत नहीं थे या अन्य अग्रिम वर्णों और जातियों की तरह धन-धान्य संपन्न नहीं थे। असुर संस्कृति दरअसल लोक संस्कृति थी, जिसे पारंपरिक विद्वानों ने उसी तरह संदेह की दृष्टि से देखा जैसे आधुनिक शास्त्रों में पारंगत समाज सुधारकों ने बीसवीं सदी में लोक संस्कृति को बस रूढ़िवादी मान कर उसका बहिष्कार किया। परंपरा में एक तरह के आर्य दृष्टिकोण के कारण असुरों, यानि साधारण लोगों के विचार और व्यवहार संदिग्ध हो गए। यह लगभग वैसे ही स्थापित और मान्यता प्राप्त कैनन से ग़ायब हो गया, जैसे आजीवक नामक एक दूसरा दार्शनिक विचार और व्यवहार ग़ायब हुआ। इतिहासकार ए. एल. बाशम (1951) ने आजीवक पर शोध करके उसके टुकड़ों को एक जगह समेट कर उपलब्ध कराया। उसी तरह लोकायत के टुकड़ों को समेटने का काम एस. एन. दासगुप्ता और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय सरीखे दर्शन के इतिहासकारों ने किया।

अगर बाशम (2004) की सुनें तो वैदिक काल में ही एक प्रकार की नाच-गान, भोग-विलास आधारित संस्कृति का जन्म हो गया था। यह अलग बात है कि आर्यों का वर्चस्व मजबूत हुआ और वैदिक हिस्से को क्रमशः ज़्यादा स्थान और मान्यता मिलने लगी। *अथर्ववेद*, *सामवेद* आदि पर *ऋग्वेद* हावी हो गया। ज़ाहिर है कि तंत्र, लोकायत और आजीवक सरीखी व्यावहारिक ज्ञान परंपराएँ हाशिये पर चली गईं। लेकिन क्या वे सब सामाजिक जीवन से वस्तुतः ग़ायब हो सकीं? लोगों के व्यवहार में लोकायत बना रहा, इसीलिए हरिमोहन झा के खट्टर काका को वह बहुत आसानी से उपलब्ध हो गया। विद्वानों को जो सर पीट कर भी भारी-भरकम ग्रंथों में नहीं मिलता, वह साधारण लोगों के सामाजिक जीवन में सहज ही जीवन्त रहता है।

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 118



असुरों, यानि वैदिक और आर्य विधि व्यवहार से परे लोगों की वह पद्धति, जिसकी बौद्ध विद्वान बुद्धघोष ने निंदा करते हुए उसे वितंडावाद कहा, लोकायत के अनुसार तर्क-वितर्क की विधि है। जैसा वाद-विवाद होता है, वैसा ही वितंडा होता है जिसमें वाद को काट-पीट कर स्थापित मूल्यों और मान्यताओं की धज्जी उड़ा दी जाती है ताकि नई सोच की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया जाए। ज़रा सोचिए, अगर ऐसा न किया जाए तो कौन सुनेगा ऐसे तर्क जो हमारे अस्तित्व की बुनियाद पर चोट करते हों। धर्मों और ग्रंथों पर आधारित हमारे ब्रह्माण्ड ज्ञान, जीवन-मृत्यु के अनुभव, काम-अर्थ कामनाएँ, देह और संसार के मायने आदि को तोड़ने के लिए वितंडा निश्चित रूप से एक बड़ा उपक्रम है। इसकी निंदा या अवहेलना वही कर सकते हैं जिन्हें आधार खिसकने का डर हो और उससे भी बड़ा ये डर हो कि अगर जाना-पहचाना आधार खिसक गया तो वे कुछ सोच ही नहीं पाएँगे। काका के लिए वितंडा एक बौद्धिक आवश्यकता है अपनी बात कहने के लिए। अलबत्ता उनके वितंडा में हास्य रस सहज ही बहने लगता है। ज़ाहिर है कि ये विश्वविद्यालयों के सेमिनार हॉल में होने वाला वितंडा नहीं है। काका का लोकायती वितंडा मैथिल लोकसंस्कृति में इतना रचा हुआ है कि लोकपात्रों के हास-परिहास की शैली उसमें आराम से फिट हो जाती है।

काका के भतीजे को भी यह डर लगातार लगा रहता है, कि इस वितंडे से कहीं सोचने-समझने-बताने का मूल आधार ही ना खिसक जाए। उसके हरेक प्रश्न में ऐसी चिंता दिखती है। वह बार बार कहता है, 'काका अहाँ त सब बात में अपन तर्क लगा दैत छियैक'! लेकिन उसके पास और कोई चारा नहीं। कैसे तोड़े काका से रिश्ता और कैसे ग़लत साबित करे काका को? कैसे अनदेखा करे उस हास्य-निमंत्रण को? भतीजे को वितंडा के प्रभाव को अनदेखा करना असंभव लगता है। यही तो है काका का लोकायत, जिसमें रिश्ते और भावनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन हँसी-ठिठोली करते हुए अपना पक्ष रखना भी ज़रूरी है। अपने अनुभवों को अनावश्यक परिष्कृत करने और पंडितों की वाहवाही लेने की बजाय इसमें दैनिक जीवन में दिखने वाले नग्न सच को देखना, समझना और मानना ज़्यादा हितकर है। दैनिक जीवन में भौतिकता ही प्रधान है। संसार ही सच है। उसमें उपलब्ध सुविधा-असुविधा, भोग-विलास, काम-क्रोध आदि सब सच हैं। इस संसार को भोगते हुए हम देह के माध्यम से इसे जानते हैं। देह केंद्रित अनुभव और ज्ञान ही असल दर्शन है जिसे अनेक आधुनिक विचारकों ने एमबॉडीड नॉलेज यानि देहगत आनुभविक ज्ञान कहा है। कमोबेश वही तो मंत्र है लोकायत में। हालाँकि लोकायत के पार्श्व में भी एक व्यवस्था बताई गई है। कहा जाता है कि देह के केंद्रीकरण में दरअसल तंत्र ज्ञान का प्रभाव है। लोकायत दर्शन और व्यवहार तंत्र ज्ञान के इर्द-गिर्द घूमता है लेकिन तांत्रिक अनुष्ठानों में नहीं जाता। एक तरह से कहें तो अनेक मामलों में तांत्रिक विचारों और कला को लोकायत एक सहजता प्रदान करके उसे अतिसाधारण सामाजिक स्तर पर ले आता है। इसी संदर्भ में अनेक मैथिल भाषी यह भी मानते हैं कि अहिपन, यानि अल्पना, दरअसल एक तांत्रिक यंत्र है। अनेक शुभ अवसरों पर महिलाएँ पिसे हुए चावल, हल्दी, सिंदूर आदि से धरती या किसी और ठोस सतह पर डिज़ाइन बनाती हैं। यह डिज़ाइन वास्तव में यंत्र

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 119



की शक्ल में होता है। मैथिल सांस्कृतिक जीवन में मौजूद ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। इसी के अंतर्गत आती है मैथिल पुरुषों के सर पर सुशोभित एक विशेष प्रकार की टोपी जिसे पाग कहते हैं, या फिर महिलाओं के कपाल पर सिंदूर का ठोप आदि। इन सब सांस्कृतिक लगने वाले उदाहरणों से ये प्रतीत होता है कि तंत्र को भी लोक संस्कृति में लाकर एक सांस्कृतिक साधारणीकरण किया गया। फिर कैसे ये तंत्र काका के लोकायत में प्रवेश ना करे?

हिंदुओं और बौद्ध धर्म के अनुयायियों में तंत्र के अलग-अलग रूप पाए गए हैं। तंत्र का लोकायत से थोड़ा बहुत संबंध अनुमानित है (नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य, 1982)। तंत्र में देह को केंद्र में रखते हुए मांस-मैथुन-मद्य-मुद्रा-मत्स्य को माध्यम बना कर साधना की पद्धति रही है। मृत शवों के इर्द-गिर्द, श्मशान भूमि जैसी जगहों पर तंत्र व्यवहार की जानकारी तो कमोबेश सबको है लेकिन तंत्र ज्ञान बस इतना ही नहीं है, इसमें सोच-विचार की एक विकसित धारा भी है। तांत्रिकों को वामाचारी भी कहा गया है। वाम को साधारणतः बाएँ पक्ष के रूप में समझा जाता है। लेकिन तंत्र में वाम का मतलब स्त्री-देह और काम-भोग होता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि यह सब, स्त्री-पुरुष की देह और मांस, मैथुन आदि दैनिक सामाजिक जीवन में पाई जाने वाली अति साधारण चीज़ें हैं। भोग-उपभोग करना भी बिल्कुल ही साधारण बातें हैं। ऐसा नहीं करना निश्चय ही एक असाधारण व्यवहार है जिसे मान्यता प्राप्त धार्मिक ग्रंथों और पांडित्य से लबरेज़ प्रवचनों में देखा-सुना जाता है। तंत्र ऐसे आडंबरों से एक क्रांतिकारी प्रस्थान करता है जिसमें व्यवहार और विचार में पवित्रता और संस्कारों के नाम पर असामाजिक पांडित्य का वर्चस्व हो। कैननवादी, ग्रंथवादी, कर्मकांडी, अनुष्ठानवादी पांडित्य से लोकायत भी ऐसा ही प्रस्थान है। एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है लोकायत की जो इसे तंत्र ज्ञान और व्यवहार से अलग करती है। वह यह कि लोकायत में परिवार-समाज, रिश्ते-नाते, भाव-स्वभाव आदि का भी स्थान बना रहता है। समाज से हटकर, ऊपर उठकर, त्याग कर नहीं बल्कि इसमें रहकर लोकायत का देहवाद परिष्कृत होता है। इसमें दुःख में दुखी होकर दहाड़े मार-मार कर रोने, सुख में ख़ुशी से ठहाके लगा कर हँसने और इस तरह के अनेक मानवीय व्यवहार को ही सच माना जाता है। देह को जैसा लगे, वही सच है। काम-वासना, मद-लोभ, छल-कपट, सब कुछ बिना किसी हिचक के मानवता के सच के रूप में स्वीकार किया जाता है। जो यह सब है, वही मानवीय है, साधारण है और लोकायत दर्शन का पात्र है। ऐसा करते हुए लोकायत ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की परिकल्पना को अपदस्थ करता है। यह एक तरह की संशयवादी परिकल्पना है परलोक को लेकर, जो लोकायत को देह की इहलौकिक परिधि में समेटता है। इस संसार के बाद देह नहीं। तो इस संसार के आगे जो है, उससे हमारे आनुभविक ज्ञान का सीमित मतलब ही रह जाता है।

अब ऐसे साधारण लगने वाले दैनिक व्यवहार को एक दार्शनिक विचार के रूप में कोई स्थापित करेगा तो उसका क्या होगा? चार्वाक का नाम इतना बदनाम किया गया कि अगर हमारे समाज में कोई निजी सुख के लिए कुछ करे तो एक संस्कृत श्लोक सुना कर उसे धिक्कारा जाता है। कहते हैं, यह श्लोक चार्वाक या बृहस्पति ने प्रचलित किया था –

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 120



यावज्जीवेत्सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत। भस्मिभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। (यानि, जब तक जियो, सुख से जियो और इसके लिए अगर ज़रूरत हो तो पर्याप्त उधार लो और मज़े करो।)

ये अलग बात है कि लोकायत को बस इस सरल श्लोक में नहीं समेटा जा सकता। इसीलिए लोकायत महज उपभोक्तावादी विचार नहीं बल्कि ये भोग करने के सहज मानवीय गुण को इसीलिए प्रचारित करता है क्योंकि इसके केंद्र में देह है, संबंध हैं, भावनाएँ और संवेदनाएँ हैं। ऐसे विचार को अनीश्वरवादी-नास्तिक विचारकों का बेकार का ज्ञान समझ कर फेंकने से पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि इसका पूरा संदर्भ क्या है। देह का जो केंद्रीयकरण लोकायत करता है, वह इस श्लोक के गूढ़ मतलब को भी स्पष्ट करता है। जैसे खट्टर काका करते हैं, देह केंद्रित सुखों को विस्तार से समझा कर। अगर देह है, तभी आत्मा-परमात्मा है, अन्यथा क्या है? व्यक्तिगत देह के आसपास जो अनेक देह हैं, और उनके अनुभवों का संसार है, उसी से तो परिवार और समाज है, रिश्ते-नाते हैं, भोग-संभोग और भाव-स्वभाव है। चूड़ा-दही, खाजा-लड्डू, रसगुल्ला-पनितोबा खाते हुए, भाँग पीसते और पीते हुए, साहित्य-संस्कृति और धार्मिकता-नैतिकता पर चर्चा करते हुए खट्टर काका लोकायत दर्शन को एक ठोस जीवन प्रदान करते हैं। या शायद हमारे काका मैथिल लोक संस्कृति में पहले से ही मौजूद लोकायत विचार-व्यवहार के प्रतिनिधि बन जाते हैं। आख़िर यही तो है सांस्कृतिक इंटर-टेक्सचुअलिटी जिसमें भूत-भविष्य, शब्द-दृश्य, व्यक्ति-समष्टि आदि आपस के किसी ज़बर्दस्त प्रेम आलिंगन में पड़े रहते हैं।

## अंततोगत्वा : न भूतो न भविष्यति

जयकांत मिश्र ने मैथिल साहित्य के इतिहास में हरिमोहन झा के खट्टर काका विमर्श की सिद्धि को स्वीकार करते हुए लिखा कि काका तिल का ताड़ बनाकर तोड़-फोड़ कर रहे हैं, लेकिन उनके पास कोई विकल्प नहीं। भला कोई और तरीक़ा है समाज में रहने, विद्रूपों को हास-परिहास का दर्पण दिखाते हुए, रिश्ते में बने रहकर सबसे चिढ़ते और चिढ़ाते रहने का? ऐसे दोषारोपण का हरिमोहन झा ने *तरंग* के दूसरे-तीसरे संस्करणों में अपने तरीक़े से जवाब दिया। साहित्य-संस्कृति का जो समाजशास्त्र हरिमोहन झा ने प्रस्तुत किया अपनी रचनाओं के माध्यम से, उसे एकत्र करने की कोशिश करते हुए इस लेख में भी ऐसे आरोपों का एक जवाब देने की कोशिश की गई है। हरिमोहन झा साहित्यिक विधाओं के ज़रिए वही बातें कह रहे हैं और काका से कहलवा रहे हैं, जो उन्होंने मैथिल समाज में देखा-सुना है। सोहर में राम का गुणगान और शिकायत दोनों सुने जा सकते हैं। गोसाउनिक गीत और नचारी में देवताओं के साथ सवाल-जवाब सुने जा सकते हैं। किसी दोपहर या शाम को किसी गाँव में किसी काका की दालान पर बैठक में कमोबेश यही सब सुनने में आ सकता है, जो खट्टर काका सुनाते रहते हैं। साधारणतः सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार देहवादी ही हैं – खाते-पीते, मौज में रहते, मैथिल समाज के लोगों ने तो तंत्र विधा तक को स्वीकार किया। फिर बिना नाम जाने अगर लोकायत दिखाई पड़े तो क्या हर्ज़।

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 121



इस लेख के निष्कर्ष में भी यह जोड़ देना अनिवार्य है कि *खट्टर काका* विमर्श के इंटर-टेक्सचुअलिटी का एक और आयाम भी है। भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के जिस खंड में काका साहित्यिक परिधि में अवतरित होते हैं उसका एक संबंध उन दिनों प्रचलित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न से भी देखा जा सकता है। वह प्रश्न था – हिंदू कौन है? आज भी ये प्रश्न विविध रूपों में हमारे सामने आता रहता है। औपनिवेशिक काल में इस प्रश्न के पीछे राष्ट्रवादी, उदारवादी और एक तरह की हिंदूवादी ऊर्जा को देखा गया। इस प्रश्न को एक औपचारिक अभिव्यक्ति सावरकर (1923) ने दी थी। सावरकर ने स्पष्ट किया था कि उनकी हिंदुत्व की अवधारणा हिंदुइज़्म, हिंदूधर्म और उसके लोगों के व्यवहार से ऊपर और विशिष्ट है। उनकी अवधारणा का आधार संस्कृत साहित्य का एक पांडित्यपूर्ण हिस्सा था, जिसमें समाज की सामाजिकता, देह की दैहिकता, लोक की लौकिकता से बचते हुए एक शुद्धतावादी दृष्टिकोण प्रबल था। सावरकर के इस प्रश्न और शुद्ध-अशुद्ध की अवधारणा की ऊष्मा स्वाधीन भारत में भी बनी रही थी। तभी संस्कृत भाषा को एकाधिकार मिला और संस्कृत जानने, उसमें लिखित साहित्यों को समझने और मीमांसा करने वालों को हिंदू का उपयुक्त मॉडल समझा गया। इसे और विस्तार से समझने के लिए सुमति रामास्वामी (1999) की संस्कृत और आधुनिक भारत की संवैधानिक राजनीति पर की गई बहस को देख सकते हैं।[16] या फिर रोमिला थापर (1989) की उस बहस को भी, जिसमें वे बताती हैं कि एक कल्पित समाज, संस्कृति और राष्ट्र को शुद्धतावादी दृष्टिकोण से काग़ज़ पर उतारा गया।[17] अक्षय मुकुल (2017) की उस विस्तृत बहस को भी इस सिलसिले में देख सकते हैं, जिसमें वे आधुनिक भारत की हिंदू दृश्य संस्कृति को गीता प्रेस के प्रकाशनों के माध्यम से समझाते हैं। ऐसे अनेक और नाम लिए जा सकते हैं जो शोध-लेखन में इस प्रश्न से जूझते रहे हैं।

दलित और जेंडर की दृष्टि से भी अनेक आलोचनात्मक बहसें हो चुकी हैं। ताराबाई शिंदे द्वारा लिखित *स्त्री-पुरुष तुलना* तो एक प्रकार से औपनिवेशिक भारत में हिंदुओं की पहली स्त्रीवादी आलोचना कही जा सकती है। पंडिता रमाबाई ने अग्रहारा जाति की औरतों पर सटीक लेखन किया, उसका उल्लेख तो आज भी स्त्री-दलित विमर्श में होता है। सूज़ी थारू और के. ललिता (1991) ने ऐसे ही अनेक उल्लेखनीय उदाहरणों को इतिहास के पन्नों से एकत्र करके हमें नारीवादी-दलित चिंतन में भी 'कौन है हिंदू' जैसे प्रश्न का उत्तर समझाया। इसके अलावा डॉ. बी. आर. आंबेडकर के चिंतन और विमर्श में तो खुल कर हिंदुओं की सामाजिकता और संस्कृति, धर्म और कर्म, ज्ञान और मीमांसा में जातिगत विभेद, हिंसा और असहिष्णुता की चर्चा है। उनका जाति तोड़क आह्वान तो स्पष्टतः हिंदू तोड़क भी था। तभी तो उन्हें हिंदू धर्म छोड़ कर बौद्ध को नवरूप देते हुए नवयान धम्म का मार्ग प्रशस्त करना पड़ा।

---

[16] सुमथी रामास्वामी (1999) : 339-381.

[17] रोमिला थापर (1989) : 209-231.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 122



ये सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हरिमोहन झा के *खट्टर काका* 'कौन है हिंदू' जैसे प्रश्न पर एक गूढ़ प्रहसन दे रहे हैं जिसमें जाति तोड़क, धर्म तोड़क और समाज-संस्कृति की असंगति पर भरपूर प्रहार है। आज के हिंदुत्व की राजनीति को ध्यान में रख कर कोई लोठार लुत्से (1999) की बात भी शायद मान ले कि खट्टर काका हिंदुत्व के आलोचक हैं। लोठार लुत्से प्रायः एकमात्र ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने हरिमोहन झा के *खट्टर काका* पर एक टीका लिखी थी। लेकिन नहीं देख-समझ पाए वे कि *खट्टर काका* की इंटर-टेक्सचुअलिटी का दायरा बहुत बड़ा है। ध्यान में रखने वाली बात ये है कि काका की आलोचना के आधार में न तो यज्ञोपवीत का त्याग है, न ही आंबेडकर की तरह *मनुस्मृति* का दाह-संस्कार है। उसी समाज संस्कृति में बने रहना, जिसकी हँसी उड़ाई जाए और उस पर प्रहार किया जाए, यह सांस्कृतिक प्रतिरोध की एक अनोखी रणनीति है। कोई कहेगा, ये काका बस अवसरवादी हैं! उनकी आलोचना खोखली है। उन्होंने वह नहीं किया जो आधुनिकता से प्रेरित, नामचीन विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे मैथिल युवकों ने 1950 या 1960 के दशकों में किया। सुना जाता है कि अनेक ऐसे मैथिल युवक जनेऊ को जलाकर शराब में डाल कर पी गए। मैथिल ब्राह्मणों की संस्कृति के विरुद्ध और 'कौन है हिंदू' के प्रश्न पर जो हिंदू राष्ट्रवादी जवाब आ रहे थे, उसके विरुद्ध ये उनका प्रतीकात्मक विरोध था। हरिमोहन झा के काका ऐसा कुछ नहीं करते बल्कि उसी संस्कृति से अपने दैहिक सुख का संसाधन लेते हैं और उसी का मज़ाक़ बनाते हैं। ये एक साधारण दिखने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिरोध का तरीक़ा है जिसे काका लोकायत के आवरण में प्रस्तुत करके हमें अवाक करते हैं।

एक और ध्यान देने की बात यह है कि काका-विमर्श आधुनिक ज्ञान मीमांसा के लिए नए द्वार खोलता है। युरोपीय एनलाइटेनमेंट जैसी दार्शनिक मीमांसा से आगे बढ़कर यहाँ हम देह की अनेक परतों में सच की परिकल्पना पाते हैं। युरोप के रेने देकार्त (1641-1993) के लिए देह संदेहास्पद ज्ञान का स्रोत है। देह की वेदना-संवेदना को शुद्ध बौद्धिकता के मार्ग में बाधा माना गया था। ठीक वैसे ही जैसे संसार का त्याग कर तप करने वाले किसी पंडितनुमा संन्यासी ने भारतीय वैदिक परंपरा में माना होगा। व्यक्ति की देह की दैहिकता और संसार की सांसारिकता से हट कर ही पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान ने अपनी सांसारिक सत्ता स्थापित की थी। बुद्धि-विवेक को एक देह-मुक्त विशेषण और कर्त्ता दोनों माना गया। यहीं से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का विवाद शुरू होता है जिसे बाद में गिल्बर्ट राईल (1949) नामक दार्शनिक अपनी किताब *द कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइंड* में खंडित करते हैं। देकार्त के *मेडिटेशंस* से उपजी समझ को वे एक मिथक बताते हैं। वे इंटेलेक्ट को इमोशन से जोड़ कर दिखाते हैं। वे देह की दैहिकता को केंद्रित करते हुए ज्ञान की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। राईल को लगता है कि बुद्धि और देह के बीच की खाई में खोट है। इसका फ़ायदा आधुनिक दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र को मिला लेकिन इससे अनेक भ्रांतियाँ भी पनपीं। ऐसी ही देह-बुद्धि की खाई को पाटने के लिए उत्तर-आधुनिक, उत्तर-संरचनावादी और स्त्रीवादी सिद्धांतों में अलग-अलग विमर्श सामने आए। हरिमोहन झा के खट्टर काका बिना शाब्दिक जाल बुने, बिना जटिल संकल्पनाओं में उलझे, बड़ी सरलता और सहजता

से, हँसते-हँसाते, देहवादी बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान की रसधारा बहा देते हैं। जब उन्हें लगता है कि आलोचक बिना उन्हें समझे-जाने आधुनिक या पाश्चात्य कहकर किनारे रख देंगे, तो वे आधुनिकता के परपितामह डॉक्टर फ्रॉयड को भी नहीं छोड़ते। भतीजे ने कहा, 'धन्य छी, खट्टर काका। अहाँक त सभ बात में बिनोदे सुझैत अछि। उलटे गंगा बहा दैत छिऐक।'

काका कहते हैं, 'हम बहबैत छिऐक कि आधुनिक महर्षि फ्रायडक चेला लोकनि बहबैत छथुन्ह? हुनका लोकनिक सिद्धांत छैन्ह जे चोला छुटय, लेकिन चोली नहि छुटय। कदम्ब सँ कदीमा, धरि, सभ प्रतीके सुझैत छैन्ह। इंद्रियनिरोधक स्थान में गर्भनिरोध करय छथि। मेन लाइन छोड़ि तेहन लूप लाइन धेलन्हि अछि जे भावी पीढ़ी कूप में जा रहल अछि' (पृ. 217)।

हम देख सकते हैं कि काका का देहवाद कैसे आधुनिक प्रतीकात्मकता पर भी तंज कसता है। काका चाहे किसी घाट का पानी पी रहे हों, वे अपने हास-परिहास के ज़रिये एक अति साधारण प्रकार के प्रतिरोध की सांस्कृतिक राजनीति को अंजाम देते रहते हैं। इस लेख में जिस तरह के समाज-संस्कृति-साहित्य के समाजशास्त्र का ख़ाका तैयार होता है, वह ऐसे प्रतिरोध की महत्ता को समझने के लिए सुलभ है।

## संदर्भ

इर्विंग गॉफ़मैन (1959), *द प्रेजेंटेशन ऑफ़ सेल्फ़ इन एवरीडे लाइफ़*, एंकर, लंदन.

ए. एल. बाशम (1951), *हिस्ट्री ऐंड डॉक्टरिंस ऑफ़ द आजीविकाज़*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

ए. एल. बाशम (2004), द *वंडर दैट वॉज़ इंडिया : ए सर्वे ऑफ़ द हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ़ द इंडियन सब-कांटिनेंट बिफ़ोर द कमिंग ऑफ़ द मुस्लिम्स*, पैन मैकमिलन, दिल्ली.

ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन (1940), 'ऑन जोकिंग रिलेशनशिप्स', *जर्नल ऑफ़ दि इंटरनैशनल अफ़्रीकन इंस्टीट्यूट*, वॉल्यूम 13, नंबर 3, अफ़्रीका : 115-210.

एमिल दुर्खाइम (2010), द *एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलीजियस लाइफ़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

एमिल दुर्खाइम (2013), द *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसाइटी*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यू यॉर्क.

ओरहान पामुक (2010), द *नाइव ऐंड सेंटीमेंटलिस्ट नॉवेलिस्ट*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, हार्वर्ड.

के. पॉपर (1963), *कंजेक्चर ऐंड रेफ़ुटेशन*, रटलेज ऐंड केगन पॉल, न्यू यॉर्क.

गिल्बर्ट राईल (1949), द *कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइंड*, हचिंसन युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लंदन.

गीयर्ट्ज़ क्लिफोर्ड (1972), डीप प्ले : नोट्स ऑन द बालिनीज़ कॉकफाइट, डेडल*स*, वॉल्यूम 101, नं 1, मिथ, सिम्बल ऐंड कल्चर : 1-37.

गोपाल गुरु ऐंड सुंदर सारुक्कई (2019), *एक्सपीरियंस, कास्ट ऐंड द एवेरीडे सोशल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जयकांत मिश्रा (1998), *मैथिल साहित्यक इतिहास*, साहित्य अकादेमी, दिल्ली.

जूलिया क्रिस्टेवा (1982), *डिज़ायर इन लैंग्वेज़ : ए सेमिऑटिक एप्रोच टू लिटरेचर ऐंड आर्ट*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 124




जेफरी सी. एलेग्जेंडर (2011), *परफ़ॉर्मेंस ऐंड पावर*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज़.

टी. अडोर्नो, एम. होर्खेइमर (1971), *डायलेक्टिक ऑफ़ एनलाइटेनमेंट*, वर्सो, न्यू यॉर्क.

टेरी ईगलटन (2019), *ह्यूमर*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, येल.

डोना हारावे (1988), 'सिचुएटेड नॉलेज़्स : द साइंस क्वेश्चन इन फेमिनिज़्म ऐंड द प्रिविलेज़ ऑफ़ द पार्शियल पर्सपेक्टिव', *फ़ेमिनिस्ट स्टडीज़*, वॉल्यूम 14, नं. 3 : 575-599.

तलाल असद (1979), 'एंथ्रोपोलॅजी ऐंड द कोलोनियल एनकाउंटर', गेरित हुईज़र और ब्रूस मानहाइम (सं.), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ एंथ्रोपोलॅजी : फ्रॉम कोलोनियलिज़्म ऐंड सेक्सिज़्म टुवार्ड ए व्यू फ्रॉम बिलो*, मुतोन, पेरिस : 75-96.

दीपेश चक्रबर्ती (1999), 'अड्डा, ड्वेलिंग इन मॉडर्निटी', *पब्लिक कल्चर*, वॉल्यूम 11, संख्या 1, कलकत्ता : 109-145.

दीपेश चक्रबर्ती (2007), *प्रोविंशियलाईज़िंग युरोप : प्रिकॉलोनिअल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफरेंस*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

देवनाथ पाठक (2019), *लिविंग ऐंड डाईंग : मीनिंग्स इन मैथिल फोकलोर*, प्राइमस, दिल्ली.

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत : ए स्टडी इन एंसियंट मेटेरिलिज़्म*, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य (1982), *हिस्ट्री ऑफ़ द तांत्रिक रिलीजन*, मनोहर, दिल्ली.

फ्रेडरिक. एड. बार्थ (2005), *वन डिसिप्लिन, फोर वेज़: ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच, ऐंड अमेरिकन एंथ्रोपोलॅजी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

ब्रायन एस. टर्नर, (एड.), (2012), *रटलेज हैंडबुक ऑफ़ बॉडी स्टडीज़*, रटलेज, ओक्सऑन.

माधव एल. आप्टे (1975), *ह्यूमर ऐंड लाफ्टर : एन एंथ्रोपोलॅजिकल एप्रोच*, इथाका ऐंड कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

मिशेल फूको, (1977), 'व्हाट इज़ ऐन ऑथर?', डोनाल्ड एफ़ बोचार्ड (सं.) *लैंग्वेज़, काउंटर-मेमोरी, प्रैक्टिस : सेलेक्टेड एसेज़ ऐंड इंटरव्यू बाइ मिशेल फूको*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, ईतहाका : 113-138.

रमाकांत मिश्रा (1986), 'मैथिल : लाइफ़ ऑफ़ ए लिटरेरी जाएंट', *इंडियन लिटरेचर*, वॉल्यूम 29, नंबर 5 (सितंबर-ऑक्टूबर) : 107-115.

राधा कुमार (1993), द *हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग : एन इलस्ट्रेटेड अकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फ़ॉर विमेंस राइट्स ऐंड फेमिनिज़्म इन इंडिया, 1800-1990*, ज़ुबान, काली फ़ॉर वीमेन, दिल्ली.

राधाकमल मुखर्जी (1944), 'आर्ट ऐज़ सोशल साइंस', द *सोशियोलॉजिकल रिव्यू*, 36; 1-4 : 60-66.

रेने देकार्त (1641/ 1993), *मेडिटेशंस ऑन फ़र्स्ट फ़िलॉसफ़ी इन व्हिच द एक्ज़िस्टेंस ऑफ़ गॉड ऐंड द डिस्टिंक्शन ऑफ़ द सोल फ्रॉम द बॉडी आर डेमोंस्ट्रेटेड*, हैकेट पब्लिशिंग कंपनी, इंडियानापॉलिस.

रॉबर्ट रेडफ़ील्ड (1955), 'द सोशल आर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ ट्रेडिशन', द *फ़ार ईस्टर्न क्वार्टरली*, 15; 1 : 13-21

रोमिला थापर (1989), 'इमैज़िंड रिलीजियस कॅम्युनिटीज़? एन्सिएंट हिस्ट्री ऐंड द मॉडर्न सर्च फ़ॉर ए हिंदू आइडेंटिटी', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 23; 2 : 209-231.

रोलाँ बार्थ (1977), 'द डेथ ऑफ़ द ऑथर', *इमेज, म्यूज़िक, टेक्स्ट*, हिल ऐंड वैंग, न्यू यॉर्क.

लोठार लुत्से (1999), 'फ्रॉम डिंगली डेल टू दरभंगा : सम इंट्रोडक्टरी रिमार्क्स ऑन द मीनिंग (सेंस ऑफ़) ह्यूमर', क्रिस्टीना ओएस्टरहेल्ड और क्लाउस पीटर ज़ॉलर (सं.), *ऑफ़ क्लाउन्स ऐंड गॉड्स, ब्राह्मन्स ऐंड बाबूज़ : ह्यूमर इन साउथ एशियन लिटरेचर्स*, मनोहर, दिल्ली.

04Dev_Pathak_Layout 1 22-02-2024 15:14 Page 125



विक्टर टर्नर (1969), द *रिचुअल प्रॉसेस : स्ट्रक्चर ऐंड एंटी-स्ट्रक्चर*, ट्रांज़ैक्शन बुक, लंदन.

वीर सावरकर (1923), *हिंदुत्व : हिंदू कौन है*, वीर सावरकर प्रकाशन, बॉम्बे.

शेल्डन पोलॉक (2006), द *लैंग्वेज़ ऑफ़ द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ मेन : संस्कृत, कल्चर ऐंड पावर इन प्रीमॉडर्न इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निआ प्रेस, बर्कले.

शैलेंद्र मोहन झा (1994), *हरि मोहन झा : मेकर्स ऑफ़ इंडियन लिटरेचर*, साहित्य अकादेमी दिल्ली.

सुमति रामास्वामी (1999), 'संस्कृत फ़ॉर द नेशन', मॉडर्न एशियन स्टडीज़, वॉल्यूम 33, नंबर 2 : 339-381.

सूज़ी थारू और के. ललिता (1991) (सं.), *वीमेन राइटिंग इन इंडिया : 600 बी. सी. टू अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी*, फ़ेमिनिस्ट प्रेस ऐट द सिटी युनिवर्सिटी ऑफ़ न्यू यॉर्क, न्यू यॉर्क.

हरिमोहन झा (1971), *खट्टर काका*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

हरिमोहन झा (1981), *ट्रेंड्स ऑफ़ लिंगविस्टिक एनालिसिस इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी*, चौखंभा ओरिएंटेलिया, वाराणसी.

हरिमोहन झा (1993), *कन्यादान*, हिंदी अनुवाद विभा रानी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

हरिमोहन झा (2011), *खट्टर काकाक तरंग* (मैथिल), शेखर प्रकाशन, पटना.

हेतुकर झा (1991), *सोशल स्ट्रक्चर्स ऑफ़ इंडियन विलेजेज़ : ए स्टडी ऑफ़ रूरल बिहार*, सेज दिल्ली.